पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

१६

परिशोध

क्रम

सम्पादकीय

आधुनिक परिवेश में कथाकार का दायित्व ३ डॉ० इन्द्रनाथ मदान

शोध निबन्ध

साहित्यदर्पण-सम्मत रस-चर्वणा की सौन्दर्यबोध शास्त्रीय भूमिका ७ डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा

समकालीन रचनाकार की कृति-चेतना १३ डॉ० अतुलवीर अरोड़ा

कबीर साहित्य में छन्दोयोजना १९ डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

आलोचक का पूर्वाग्रह और नायक विहीन उपन्यास ३२ डॉ० जगमोहन चोपड़ा

श्री गुरु अर्जुनदेव—कवि रूप ३७ श्री हरदेव सिंह सिद्धू

आधुनिक कविता में बोध का संकट ४२ श्री गुरु चरणसिंह मोंगिया

छायावादी काव्य में युगाभिव्यक्ति : आक्षेप और समाधान ४७ श्री रवीन्द्रनाथ

निराला का आत्म-संघर्ष ५० श्रीमती रीतारानी वर्मा

नाट्य-तत्व : पुनः निर्धारण ५९ डॉ० हर्ष नारायण 'नीरव'

रामचरितमानस में उत्तरकाण्ड के धार्मिक बिम्ब विधान की रूपरेखा ६७ श्री चन्द्र किशोर 'यादव'

रीतिकाल का अचर्चित : प्रतिनिधि भक्त कवि ७४ डॉ० प्रेमचन्द सिंह

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-सीमाएँ ८० श्री रमाकन्त शर्मा

प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास-धारणाएँ ८८ डॉ गुरदीपसिंह खुल्लर

भारतीय रंगमंच : दिशा की खोज में ९३ श्री दर्शन कुमार जैन

हस्तलेख परिचय

दो महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथ

रत्न कुंवरिबाई विरचित 'प्रेमरत्न' ९९ डॉ० हिम्मत सिंह जैन

तीन सौ वर्ष पूर्व का प्रसिद्ध रुक्मिणी-मंगल १०३ श्री मेहर चन्द

सम्पादकीय

डॉ० इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

आधुनिक परिवेश में कथाकार का दायित्व

आधुनिक परिवेश में कलाकार के दायित्व को अगर समकालीन परिवेश में कथाकार का दायित्व कहा जाए तो यह बेहतर होगा। यह इसलिए कि परिवेश समकालीन होता है और बोध आधुनिक होता है—एक देश से जुड़ा होता है और दूसरा काल से। क्या समकालीन परिवेश में कथाकार का दायित्व बढ़ गया है? क्या इससे पहले यह नहीं था या थोड़ा था? इसी तरह कथाकार का क्यों, कवि या नाटककार का क्यों नहीं? आलोचक का क्यों नहीं जिसे कथाकार से घटिया समझा जाता है? दायित्व से क्या मतलब है? एक ओर इस शब्द का इस्तेमाल इतना किया गया है कि यह दूषित हो चुका है। प्रतिबद्धता से क्या आशय है? इस सवाल को अगर दूसरी तरह पूछा जाए कि कथाकार किस के लिए लिखता है, किस देवता को हवि देता है तो यह अधिक संगत होगा। क्या वह अपने लिए लिखता या दूसरे के लिए लिखता है? एक मत तो यह है कि वह केवल अपने लिए लिखता है, आत्म की अभिव्यक्ति के लिए लिखता है, खुद को हवि देता है। अगर यह सही है तो वह अपनी रचना सुनाता क्यों है, छपवाता क्यों है? अपनी रचना को वह या तो गुसलखाने में गुनगुनाया करे या बैठकर खुद पढ़ा करे। ऐसा वह नहीं करता। इसका मतलब साफ है कि वह दूसरों के लिए लिखता है। सृजन के बाद वह रचना से उसी तरह अलग हो जाता है जिस तरह मां संतान को जन्म देकर। दूसरे कौन हैं? रीतिकाल के कवि के लिए दूसरा उसका आश्रयदाता था। प्रेमचन्द के लिए दूसरा मध्यवर्गीय समाज का सदस्य था। छायावाद का पाठक भी इसी समाज का सदस्य था। इन में दायित्व का भारी अन्तर भी पाया जाता है। कथा में वास्तव को पकड़ने या उजागर करने का एक ढंग होता है और कविता में दूसरा। एक बड़ा सवाल जो पैदा हो जाता है वह वास्तव के बारे में है।

वास्तव क्या है? इसके बारे में बहस तो सदा होती रही है; लेकिन पिछले चार-पांच दशकों में यह गरमाने लगी है। इसके दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण उभरे हैं जिनमें तनाव कायम है। एक के अनुसार कथाकार ने उस वास्तव को पकड़ना या उजागर करना होता है जो भीतरी है और दूसरे के अनुसार उस वास्तव को जो बाह्य है। एक हद तक यह सही है कि उपन्यास और कहानी का अपना संसार होता है और यह हूबहू बाहर के संसार की तरह नहीं होता। ऑरतेगा कला के अमानीकरण के हक में थे और लूकाच मानवीकरण के पक्ष में। दोनों पक्षों के अनेक आलोचकों ने वास्तव के सवाल को पेचीदा बना डाला है। असल में सवाल चित्र-कला और संगीत-कला के बारे में पहले उठाया गया था। ऑरतेगा ने इसे शब्द-कला पर भी आरोपित कर दिया जिस का विरोध भी हुआ और निरूपण भी। उपन्यास या कहानी में बाहर के वास्तव या दायित्व के अनुरोधों की मनाही होने लगी। समकालीन परिवेश में कथाकार का दायित्व रचना के प्रति है जिसका अपना संसार होता है और इसका बाहर के संसार से मेल खाना लाजमी नहीं। अनुरोध एक तरह की मैल है जिसे उपन्यास में धोना होता है। इसके उदाहरण भी पेश किए गए। जायस और काफ्का के उपन्यासों को आधार बनाया गया। जायस का दायित्व उपन्यास की रचना के प्रति है। इस में मैल तो है, लेकिन न दिखने वाली है। इसे कला का अमानवीकरण कहा गया जिसका घोर विरोध हुआ। यह कहा जा रहा है कथाकार का

दायित्व न केवल बदलते वास्तव को कहना, पकड़ना या उजागर करने में है, इसे दिशा देने में भी है, उन ऐतिहासिक शक्तियों को उभारने में है जो समकालीन वास्तव को गति दे सकें। उसका दायित्व मानव की नियति को उसकी स्थिति में आंकना है जिसे बदला जा सकता है। इसके खिलाफ यह कहा जा रहा है कि मानव की स्थिति के बारे में कुछ कहना खतरनाक साबित हो सकता है। हर विचारधारा ने इन्सान को भुवाले में डाला है। आज उस के अर्थ और इति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए आदि और अन्त की बात करना अपने को धोका देना है। आज के वास्तव की बात करना है, विगत और अनागत के वास्तव की नहीं। इसलिए कथाकार का दायित्व उस वास्तव को पकड़ने में है जो उसके भीतर है। यह गहरे में होता है और बाहर का उथले में, यह तरल होता है और बाहर का ठोस और सतही। यह सवाल पूछा जा सकता है कि भीतर का वास्तव क्या आसमान से टपका है या उतरा है? क्या यह परिवेश या स्थिति की उपज नहीं होता? इसलिए समकालीन परिवेश में कथाकार का दायित्व परिवेश से कट जाने में नहीं है, इससे जुड़ने में है। इसका जवाब यह दिया जाता है कि समकालीन वास्तव या परिवेश से जुड़ने का बेहतर तरीका अखबार है। उपन्यास या कहानी लिखने की क्या ज़रूरत है? अभी तक समाचार-पत्र और कृति में अन्तर कायम है। इस दृष्टि से एक आलोचक ने यशपाल के झूठा-सच को **अखबार की कतरने** का नाम तक दे दिया है। यह इसलिए कि लेखक अपने दायित्व को निभाने में वास्तव को हूबहू पकड़ने में, बार-बार उपन्यास में दखल देते हैं और उपन्यास सृजन के स्तर से गिरने की गवाही देने लगता है। इस तरह अज्ञेय का **शेखर** भी समकालीन या भारतीय परिवेश की उपज नहीं लगता है, वह किसी भी परिवेश का हो सकता है। इस तरह लेखक अपने दायित्व को निभा नहीं पाते हैं इस मत के विपरीत यह कहा जाता है कि लेखक का दायित्व रचना को निभाना होता है, उसकी प्रतिबद्धता रचना के प्रति होती है।

जहां तक कथा-साहित्य का सम्बन्ध है इन दोनों दृष्टियों में अति है। कथा-साहित्य उस तरह की शुद्ध कला नहीं जिस तरह संगीत-कला या चित्र-कला है। इसका अमानवीकरण उस हद तक नहीं हो सकता है। कथा-साहित्य में लेखक का दखल देना लाज़मी है। आज इसे किस तरह दिया जाए यह अलग सवाल है। वाग्मिता या संबोधन का उपन्यास या कहानी में क्या रोल हो सकता है। वास्तव को उजागर करने में लेखक किस तरह टीका-टिप्पणी कर सकता है, अपने दायित्व को किस तरह निभा सकता है। वह युग बीत गया जब उपन्यासकार रचना और पाठक के बीच डट कर खड़ा हो जाता था और प्रेमचन्द की तरह लंबे-लंबे भाषण दे सकता था या लेख लिख डालता था। आज कथाकार रचना और पाठक के बीच से गुज़र तो सकता है, लेकिन डट कर खड़ा नहीं हो सकता। उसे अपने-आप को छिपाना होता है। वह सीधे पाठक का सामना नहीं कर सकता। इसलिए तटस्थता बरतने के लिए वह इंगित लेखक के रूप में सामने आ सकता है। अपने दायित्व को निभाने के लिए वह एक हद तक वाग्मिता या संबोधन का इस्तेमाल कर सकता है जिसे उपन्यास में मैल कहा गया है। इस मैल को धोना तो ठीक है; लेकिन इसे इतना धोया नहीं जा सकता कि कपड़ा ही फट जाए, उपन्यास का ढांचा ही चरमरा जाए। इसी तरह दायित्व और प्रतिबद्धता इतना भी हावी न हो जाए कि उपन्यास समाचारपत्र की तरह लगने लगे। इस बीच के रास्ते पर चलने के लिए कथाकार को जोखम का सामना करना है, अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाना है। मुक्तिबोध ने गहरे में उतर कर इसका निरूपण किया है, समकालीन परिवेश में कथाकार के दायित्व की नहीं, कवि के दायित्व की भी बात की है। आज का कथाकार तोता-मैना की कहानी कहने से अपने दायित्व को नहीं निभा सकता और न ही भाषणबाज़ी से काम ले सकता है। कथा साहित्य का अमानवीकरण इतना नहीं किया जा सकता कि इसमें अरूपता या विरूपता आ जाए और न ही इतना मानवीकरण किया जाए जिससे वह अखबार बन जाए। उपन्यास में वास्तव को कहना, पकड़ना या उजागर करना लाज़मी है। आज इसके ढंग बदल रहे हैं। इसलिए अपने दायित्व को निभाने के लिए कथाकार को समकालीन परिवेश में जुड़कर उससे अलग हो जाना है, तटस्थता से काम लेना है।

—: o :—

शोध निबन्ध

डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा
प्राध्यापक
पंजाब यूनिवर्सिटी पत्राचार निदेशालय,
चण्डीगढ़

"साहित्यदर्पण-सम्मत रस-चर्वणा की सौन्दर्यबोध शास्त्रीय भूमिका"

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥
—साहित्यदर्पणः, ३, २—३।

विश्वनाथ कविराज की 'रससारं सुगूढार्थं यथामति विचिन्विता' की द्योतक रस-परिकल्पना मेरे सम्मुख है। अब तक न जाने कितनी बार इसे पढ़ा, रटा और इसके सम्बन्ध में मनन किया है। आज अकस्मात् इसका एक नितान्त नवीन एवं लगभग अनजाना अर्थ मेरे सम्मुख उद्घाटित हो उठा है। मुझे लगता है मानो प्रकारान्तर से यह भारतीय सौन्दर्यबोध का मूल सूत्र एवं मंत्र हो। ज्यों-ज्यों सोचता हूँ, मेरी धारणा अधिकाधिक सुलझती, स्पष्ट होती तथा पुष्ट होती प्रतीत होती है। मन ही मन अभिनवगुप्तपादाचार्य के अमर कथन 'पूर्व प्रतिष्ठापितयोजनासु मूल प्रतिष्ठा फल मामनन्ति' का स्मरण करता हूँ और कृत-संकल्प होकर साहित्य दर्पण की रसोद्रेक सम्बन्धी स्थापना को 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' के रूप में देखने-परखने लगता हूँ।

× × ×

मैं एक अधिकारी विद्वान के इस कथन से लगभग शब्दशः सहमत हूँ कि प्राच्य परम्पराओं में जिसे 'रस' कहा जाता है, वही धारणा पाश्चात्य जगत् में 'सौन्दर्य' अथवा सौन्दर्य-बोध के नाम से विख्यात है।[1] यदि इसी दृष्टि से भारतीय सौन्दर्यबोध का अध्ययन किया जाय तो उन सभी 'चुगद धारणाओं' (शब्द डॉ० कुमार विमल के हैं) का खण्डन एवं परिहार भी अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो सकता है जिनके अनुसार भारत में सौन्दर्यबोध सम्बन्धी औचित्यपूर्ण एवं शास्त्रीय परिकल्पनाओं का अभाव है।[१] इस प्रकार की भ्रामक धारणाओं का खण्डन एक प्रसिद्ध भारतविद् ने बहुत पहले किया था।[२] किन्तु आज भी यदि रस के सन्दर्भ में सौन्दर्यबोध सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं तथा उसकी निहितियों पर विचार किया जाय तो यह स्वतः ही सिद्ध हो जायगा कि विशद धरातलों पर भारतीय काव्य-दर्शन की रस-परिकल्पना भी वैसी ही है जैसी कि पश्चिमी चिन्तनपरम्पराओं में सौन्दर्यबोध की। भारतीय विचारक ने 'विभानुभावव्यभिचारी संयोगाद् रसनिष्पत्ति' के मनोवैज्ञानिक धरातल से रस-परिकल्पना को उठाकर उसे 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' की अलौकिक भावभूमियों में

1. It should be made clear that what is called Rasa in the East, is called Beauty in the West.
—A.C. Shastri, Studies in Sanskrit Aesthetics, P. 2.

१. (a) There is scarcely a step of a feeling for the beautiful in the Brahmanical or Buddhist writings.
—William Knight, Philosophy of the Beautiful, P. 17.
(b) The Beautiful as such does not exist for the Hindus.
—Ibid, P. 27.

२. द्रष्टव्य, K.S. Ramswami Sastri, Indian Aesthetics.

परिणत कर दिया है। ब्रह्मास्वाद सहोदर अर्थात् लगभग ब्रह्मास्वाद ! ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मास्वाद भारतीय चिन्तना के अनुसार आनन्द की न केवल चरम बल्कि अन्तिम अवस्था है। यहीं आकर उपनिषदों की पूर्णत्व की परिकल्पना अक्षरशः सार्थक एवं साकार होती है।[१] इसीलिए चिन्तन की अन्तिम परिणति 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' को भी 'सच्चिदानन्द' रूप के अन्तर्गत् ब्रह्मानन्द का ही मूर्तिमान विग्रह मान लिया गया है। ब्रह्मानन्द (स्वाद) की यह परिकल्पना वस्तुतः परोक्ष रूप से सौन्दर्य की ही परिकल्पना है। इसलिए सौन्दर्य के इस रूप का परिकल्पक 'रस' भी असल में सौन्दर्य ही है। यह स्वीकार लेने के अनन्तर यदि रस-गत् मान्यताओं के विशिष्ट सन्दर्भ में सौन्दर्यबोधात्मक धारणाओं का अध्ययन किया जाय तो यह असंगत न होगा। सुविधा के लिए इस प्रकार के सौन्दर्यबोध को 'रस-रूप-सौन्दर्य' कहा जा सकता है। सौन्दर्य की इस रस-रूप परिकल्पना की व्याख्या विश्वनाथ कविराज के उस श्लोक के आधार पर की जा सकती है जिसका उल्लेख प्रस्तुत निबन्ध के आरम्भ में ही कर दिया गया है। इस श्लोकद्वयी में रस की उन सब विशेषताओं का उल्लेख सहजोपलब्ध है जिनके आधार पर सौन्दर्यबोध की विशेषताओं का निर्धारण अत्यन्त सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

डॉ० नगेन्द्र ने विश्वनाथ की रस-परिकल्पना के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं। उनके मतानुसार रस (रूप सौन्दर्य)—

(क) आस्वादन का विषय है—किन्तु निज स्वरूप से अभिन्न रीति से, अर्थात् रस (सौन्दर्य) आस्वाद से अभिन्न है। (कुल मिलाकर) वह आस्वाद स्वरूप है।

(ख) उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।

(ग) वह अखण्ड है।

(घ) अन्य ज्ञान से रहित है।

(ङ) स्वप्रकाशानन्द है।

(च) चिन्मय है।

(छ) लोकत्तर चमत्कारमय है। और

(ज) ब्रह्मास्वाद सहोदर—अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यधिक समान है।[१]

अधुनातन सौन्दर्यशास्त्रीय (पाश्चात्य और भारतीय) परिप्रेक्ष्यों में यदि रस-सम्बन्धी उपर्युक्त धारणाओं का अध्ययन किया जाय तो सौन्दर्यबोध से सम्बद्ध कितने ही महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होते हैं।

रस रूप में सौन्दर्य 'सत्व' को उद्रिक्त करता है। सत्व की स्थिति वह है जब 'मन रजः और तम से अस्पृष्ट हो—'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।' साधारण शब्दों में सत्वोद्रेक वह विशिष्ट मानसिक स्थिति है जिसमें रजस् और तमस् का तिरोधान और सत्व का आविर्भाव हो। सत्व, जोकि मानव (आशंसक, तत्त्वान्वेषी या कृति) मन की सौन्दर्य विधायिनी भावनाओं का उत्कृष्टतम सारांश है। साहित्यशास्त्रीय शब्दावली में प्रमेय रूप सौन्दर्य का अनुभव, दर्शन अथवा आस्वादन प्रमाता (या सहृदय) तभी कर सकता है जबकि उसके अन्तरतर में सत्वोद्रेक का आधान हो। यदि अलौकिक धरातल पर भी सत्व को ईश्वरीय देन या तेज के रूप में स्वीकार लिया जाय, तो विश्व का समग्र सौन्दर्य, सम्पूर्ण तेज, समस्त कान्ति एक मात्र सत्वोद्रिक्त ईश्वरीय तेज पर ही आधारित है—

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्।"[२]

सत्त्व से च्युत होकर सौन्दर्य तामसिक भावनाओं के माध्यम से पाप और व्यभिचार की ओर उन्मुख होता है। कालिदास का—

---

१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
वृहदारण्यकोपनिषद्।

१. डॉ० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ८८।
२. श्रीमद्भगवद्गीता, १०, ४१।

"यदुच्यते पार्वती पाप प्रवृत्तये न रूपमित्यं व्यभिचारीतद्वचः ।
तथा हि ते शील मुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥[1]

जैसा कथन इसका प्रमाण है ।

सात्विक होने के साथ ही साथ रस रूप सौंदर्य 'अखण्ड' भी है । अखण्ड अर्थात् आत्मा के पूर्ण तन्मयी भाव से युक्त ।[2] यहाँ आकर सौन्दर्य की प्रत्येक अनुभूति आत्म-साक्षात्कार के स्वर पर होती है । सौन्दर्य की अखण्डता की परिकल्पना उसमें मात्रा अथवा स्तर-भेद के अभाव की परिचायक होने के साथ ही उसकी आत्म एवं स्वतः पूर्णता का भी प्रमाण है । उत्तम सौन्दर्य वही है जो कि आत्मपूर्ण है । पूर्णतः सुन्दर वस्तु स्वतः ही अखण्ड होती है । अतः उसे पूर्णत्व प्रदान करने के लिए किसी भी प्रकार का संस्कार-विधान अपेक्षित नहीं है—

'स्वभाव सुन्दर वस्तु न संस्कारमपक्षते ।'[3]

जो वस्तु निसर्ग-सुन्दर एवं आत्मपूर्ण होने के कारण अखण्डता के गुण से विमण्डित है, उसके लिए किसी प्रकार के मण्डन-द्रव्यों को भी आवश्यकता नहीं होती है । सौन्दर्य की निहति उसकी आंगिक चेष्टागत् पूर्णता में हैं न कि मण्डन, द्रव्य-योजन एवं आभरण में । आत्मपूर्णता से युक्त होने के कारण कालिदास की शकुन्तला वल्कल-वेष्टिता होने पर भी मनोज्ञ है । मनोज्ञ, अर्थात् सुन्दर ! सौंदर्य को मूर्तिमान विग्रह !

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकामनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं न कृतिनाम् ।"[4]

'सुन्दर' की स्वतःपूर्णता एवं अखण्डता का प्रतिपादन एक अन्य स्थान पर भी बड़े लुभावने ढंग से किया गया है ।

१. कालिदास, कुमारसंभवम्, ५, ३६ ।
२. द्रष्टव्य---The Beautiful does not possess degrees.
३. कुसुमदेव, दृष्टान्तकलिकाशतकम्, ४,६ ।
४. कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, १,२० ।

वहाँ बताया गया है कि रम्य वस्तु स्वयंमेव एक गुणीभूत आख्या है । इसलिए उसके लिये कोई अन्य गुण या विशेषता अपेक्षित नहीं है—

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापान पयोद पंक्तयः ।
तथापि पुण्णाति नभः श्रियं परं न रम्यमाहायपेक्षते गुणम् ।"[1]

इसके अतिरिक्त 'ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य जोकि मानवीय हाथों के संस्पर्श एवं करण के बिना किसी प्रमेय के प्रति चिन्तन के द्वारा विशुद्ध मानसिक धरातल पर प्रतिभासित होता है, कलाकृति में निहित सौन्दर्य से कहीं अधिक उच्च होता है ।'[2] क्योंकि प्राकृतिक परिवेश कलात्मक परिवेश की अपेक्षा अधिक मात्रा में आत्मपूर्णता एवं अखण्डता प्रदान करने में समर्थ होता है ।

आत्मपूर्णता के ही संदर्भ में सौन्दर्य की एक विशेषता यह भी होती है कि इसकी विधायिका एवं वाहिका कला विश्व के लुप्त सौंदर्य पर से आवरण हटा देती है और वस्तुओं को इस सीमा तक सुपरिचित एवं अन्तरंग बना देती है मानों वे सुपरिचित नहीं थे बल्कि चिरपरिचित थे ।[3] इसी आवरणवत्ता, आत्मपूर्णता एवं अखण्डता के आधार पर ही सौन्दर्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि सौन्दर्य कभी भी आत्मज्ञान में समर्थ नहीं होता ।[4]

१. भारवि, किरातार्जुनीयम्, ४,२३ ।
२. The natural beauty which is revealed in the Contemplation with pure heart of some object untouched and unaltered by the hand of man is affirmed therefore to be much higher than the artist's work.
—H. Wildon Carr, The Philosophy of Benedetto Croce, pp. 4-5.
३. Poetry lifts the viel from the hidden beauty of the world and makes familiar objects he as if they were not familiar.
—P.B. Shelley, In Defence of Poetry, P. 32
४. Beauty can never learn to clearly understand itself.
—Goethe (Translated by W.B. Ronnfeldt), Criticisms, Reflections and Maxims, P.167,

इन सब विचारणाओं के मूल में सौन्दर्य की वह अखण्डता की अनुभूति है जो उसे आत्मपूर्णता की गरिमा प्रदान करती हैं ।

सौन्दर्यबोध विशुद्धतः चेतना एवं अनुभूति पर आधारित है। इस रूप में सौन्दर्य की धारणा 'पर' भावना से पूर्णतः मुक्त होती है । 'परत्व' का अभाव तन्मयीकरण की प्रक्रिया के प्राबल्य का द्योतक है । जब रस-रूप सौन्दर्य तन्मयता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो उसमें अन्य किसी भी प्रकार के कामनाजन्य ज्ञान की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं । सौन्दर्यबोध के विशिष्ट संदर्भ में कहा जा सकता है कि प्रेमय विशेष में निहित रस-रूप सौन्दर्य जब परातीत हो जाता है तो प्रमाता भी 'स्व', 'परत्व' तथा 'तटस्थता' आदि की भावना से मुक्त हो जाता है' । (शब्द डॉ० नगेन्द्र के हैं।) सौन्दर्यबोध के अतिरिक्त अन्य किसी बोधात्मक प्रक्रिया अथवा ज्ञान का अभाव प्रमाता को (विशुद्ध सौन्दर्यबोधात्मक स्तर पर) उस दिशा की ओर प्रेरित करता है, जहाँ उसे आत्मलीनता की स्थिति की प्राप्ति होती है । बौद्धिक धरातल पर आत्मलीनता की स्थिति को प्राप्त कर लेना ही सौन्दर्य का चरम एव परम ध्येय है । इस सब के लिए चित्तगत् समाधि का होना अत्यन्त आवश्यक है । समाधि का अर्थ ही है— इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होना । भारतीय आचार्यों के मतानुसार जब तक रसानुभूति नही होती तब तक सहृदय को रसबोध भी नहीं करवाया जा सकता ।[1] रसानुभूति (जो कि प्रकारान्तर से सौन्दर्यानुभूति ही है) की प्राप्ति वैयक्तिक स्तर पर आत्मलीनता के द्वारा होती है। इसी आत्मलीनता की स्थिति का दूसरा नाम समाधि है। समाधिस्थ चित्त ही रसमयी सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार करता है । यही साक्षात्कार की प्रक्रिया सहृदय को उस रस-दशा का बोध करवाती है जिसे सौन्दर्यबोध कहा जाता है ।

भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन के अन्तर्गत रस-रूप सौन्दर्य को 'स्वप्रकाशानन्द' कहा गया है । सौन्दर्य की इस स्वप्रकाश्य एवं आनन्दी कल्पना के मूल में उस निरावलम्बता की स्थिति का बोध है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य धारणा रूप में सभी अपेक्षाओं से मुक्त है । पाश्चात्य चिन्तन परम्पराओं में अभिव्यञ्जनावादी दार्शनिकों ने सौन्दर्यबोध के विस्फारक आत्म-चैतन्य को स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान (Intuition) का नाम दिया है । स्वप्रकाशानन्द पर आधारित आत्म-चैतन्य अथवा स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान 'सौन्दर्यबोधयुक्त होने के साथ ही एक प्रकार की आनन्दमयी चेतना है और इस आनन्द में मृण्मय अर्थात् ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव रहता है ।[1] स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान द्वारा उद्भुत होने के कारण सौन्दर्य का विशेष महत्त्व है । 'सौन्दर्य का सहज-बोध (स्वयंप्रकाश्य-बोध) स्वयं में ही अपना अन्तिम प्रवर्ग होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।'[2] साधारण और सीधे शब्दों में कहें तो चेतन-बोध में बद्ध सौन्दर्यानुभूति आद्यान्त एक ही है। स्वतः-पूर्ति के इसी बोध के कारण सौन्दर्य के दो रूपों (नैसर्गिक और कलात्मक) के मर्यादा-विधान में भी अन्तर है । नैसर्गिक या प्राकृतिक सौन्दर्य एक सुन्दर आख्या है और कलात्मक सौन्दर्य किसी आख्या का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है ।[3] इसलिए सौन्दर्य के प्रत्येक भेद की पूर्णता उसके न केवल स्वयंप्रकाश्य, बल्कि स्वप्रकाशानन्द से युक्त होने में है । स्वयंप्रकाश्य होने के कारण वास्तविक सौन्दर्यचेतना 'भड़कीली

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, पृ० १०१ ।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ८९ ।

२. The intuition of beauty is itself and nothing else, its final category.
—K. Gilbert, Studies in Recent Aesthtics, P. 95.

३. Natural beauty is a beautiful thing, artistic beauty is a beautiful presentation of a thing.
—Immanuel Kant, Kritik der urtheies-kraft. (Quoted by H. William Carr in 'The Philosophy of Benedetto Croce and cited by A.C. Shastri in 'Studies in Sanskrit Aesthetics. P. 176).

अलंकरण वृत्ति से बहुत ही कम मात्रा में प्रभावित होती है।"[1] इस अप्रभावन-प्रक्रिया का श्रेय उसके स्वत:-स्फूर्जित आलोक-विधान एवं तज्जन्य आनन्दमयता तथा तन्मयता को है।

भारतीय रस-चर्वणा की मान्यताओं के अनुसार रूप-पक्ष की दृष्टि से सौन्दर्य की परिकल्पना 'चिन्मय' है। चिन्मय, अर्थात् चिति अथवा ज्ञानरूपा सौन्दर्यानुभूति केवल ज्ञानाश्रित धारणा ही नहीं बल्कि स्वयं भी ज्ञान है। भारतीय चिन्तना केवलमात्र आत्मा और उसके उदात्तीकृत रूप परमात्मा को ही चिन्मय मानती है। चिन्मयता में चेतना की प्रधानता किन्तु शुद्ध चैतन्य का अभाव होता है। सब प्रकार की चित्त-वृत्तियों का उत्स होने के कारण आत्मा (मन) सौन्दर्यबोध (एक वृत्ति के रूप में) का भी मूल है। अत: पूर्णत: आत्मनिर्भर एवं आत्मगत् होते हुए भी सौन्दर्यबोध आत्मा द्वारा चालित एवं नियंत्रित है। आत्मा पूर्णत: चेतन है। इसलिए उसका आश्रित (रस-रूप) सौन्दर्य चेतनागत् शुद्धता से थोड़ा हटकर चेतनता-प्रधान वृत्ति मात्र हैं।

रस-रूप सौन्दर्य को 'वेद्यान्तर स्पर्शशून्य' कहा गया है। इस अवधारणा के अनुसार रस-रूप सौन्दर्यबोध की प्रभावन-प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र होती है। प्रमाता पर जब इसकी प्रभावन (रस-रूप में चर्वित होने के कारण आस्वादन) प्रक्रिया व्यक्त होती है तो मानव इतर ज्ञान-चेतनाओं के संस्पर्श से नितान्त असम्पृक्त हो जाता है। सौन्दर्य की इस वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता की स्थिति में प्रमाता को सौन्दर्य के अतिरिक्त न केवल भाव-चेतना बल्कि निजी अस्तित्व का भी विस्मरण हो जाता है। सौन्दर्यबोध की यह अवस्था उसमें प्रभाव-वैशिष्ट्य एवं भावात्मक वशीकरण प्रभृति विशेषताओं की निहिति का प्रमाण है।

रस-रूप में सौन्दर्य-चिन्तन एवं आनन्द का सार साक्षात् ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मास्वाद न होकर उसका 'सहोदर' है। इस सहोदरत्व की अवधारणा और मूल स्वाद के अभाव का भी एक कारण है। रस-रूप सौन्दर्य निश्चित रूप से किसी भी प्रकार ब्रह्मास्वाद से कम मर्यादा का अधिकारी नहीं है। किन्तु फिर भी प्रभावगत् स्थैर्य की दृष्टि से वह न्यून है और इसीलिए पूर्णता की मर्यादा से वंचित है। यह ठीक है कि सौन्दर्य की आस्वादन प्रक्रिया भी ठीक वैसी ही होती है जैसी कि ब्रह्मानन्द की। अन्तर केवल यही है कि ब्रह्मास्वाद प्रमाता को निजी प्रभाववश अवांछित विकारों से पूर्णत: मुक्त कर देता है। वह अशिव एवं अवाँछनीय का केवल शामक ही नहीं विनाशक भी है। इसके विपरीत सौन्दर्यास्वाद मानसिक प्रक्रिया होते हुए भी मूलत: भौतिक संकल्पनाओंपर आधारित है। प्रभावन प्रक्रिया के अन्तर्गत वह भी अवांछित विकारों का रेचन एवं शमन करता है। परन्तु ये प्रक्रियाएँ चिरस्थायी नहीं होतीं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि विकारों की सौन्दर्यबोधपरक विरेचना के अनन्तर भी उनके पुनर्जीवन की संभावना निरन्तर बनी रहती है जबकि ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति से उनके पूर्णत: विनष्ट होने की बात शास्त्रोक्त एवं परंपरानुमोदित है। प्रभावात्मकतागत् यही अस्थिरता सौन्दर्य को ब्रह्मास्वाद की मर्यादा से गिराकर मात्र 'सहोदरत्व' की मर्यादा प्रदान करती है।

परन्तु इस अस्थिरता की मनोवृत्ति को व्यापक अर्थों में सौन्दर्यबोध की विषमता के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता क्योंकि अस्थिरता गतिशीलता और सातत्य का एक चिन्ह है। यह तय है कि गत्यात्मक आख्या स्थिर बोध से सदैव उत्तम होती है। दूसरे जागतिक धरातल के अधिक समीप होने के कारण सौन्दर्य-चेतना में लौकिक धारणाओं-अवधारणाओं का अस्तित्व भी रहता है जबकि ब्रह्मास्वाद में इस प्रकार के अस्तित्व की आशंका भी नहीं होती है। लौकिक विषयों का प्रधान्य इस तथ्य का द्योतक है कि मर्यादा में हीन होते हुए भी व्यवहार पक्ष की दृष्टि से रस-रूप सौन्दर्य से अधिक व्यापक है। इस प्रकार रस-रूप सौन्दर्यबोध आकाशकुसुमीय चिन्तनजन्य आनन्द की अनन्यतम एवं अन्तिम सीमा 'ब्रह्मास्वाद' से कहीं अधिक व्यावहारिक, सहज-गम्य एवं महत्त्वपूर्ण है।

1, Beauty gains little by gaudy attire.
—Qtd. by Alexander Bains in 'English Composition and Rehetoric, P. 61.

'सहोदरत्व' का भाव उसकी गहनता, व्यापकता, एवं व्यावहारिकता का परिचायक है न कि अपूर्णता अथवा अपेक्षाकृत हीनता का।

सौन्दर्यबोध 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है। चमत्कारप्राणता और वह भी ऐसी जो कि लोकोत्तर हो। भारतीय लालित्य चिन्तन की परम्परा में 'चमत्कार' को भी सौन्दर्य का ही पर्याय मानकर सौन्दर्य-विधायक नियमों के आलोक में उसका ग्रन्थबद्ध निरुपण भी किया गया है।[1] चमत्कार वस्तुतः एक विशेष प्रकार के चित्तगत विस्तार का ही नाम है।[2] जब इसी चमत्कार को लोकोत्तर भाव-भूमि पर सौन्दर्य का प्राण मान लिया जाय तो रस रूप में वह 'न प्रत्यक्ष अनुभव है, न परोक्ष, न कार्य है, न ज्ञाप्य है न सविकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञाता की चेतना विद्यमान रहती है और न निर्विकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है, जहाँ जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है। इस प्रकार सभी तरह की लौकिक परिभाषाओं से मुक्त होने के कारण वह अनिर्वचनीय है और अलौकिक (लोकोत्तर) है।'[3] लोकोत्तर को भी अप्राकृतिक के स्थान पर अतिन्द्रिय के अर्थ में ग्रहण करना ही अधिक युक्तियुक्त होगा।

१. द्रष्टव्य, 'चमत्कार चन्द्रिका'।

२. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।
—विश्वनाथ, साहित्य दर्पण : ३,३ (वृत्ति)।

३. डॉ० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ८९।

इस समग्र विवेचन के आधार रस-रूप सौन्दर्य को जिन विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है, वे हैं—(१) सत्वोद्रेकजन्य सात्विकता (२) अखण्डता (३) स्व-प्रकाश (४) आनन्दमय (५) चिन्मय (६) वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य (७) ब्रह्मास्वाद सहोदर तथा (८) लोकोत्तर चमत्कार प्राण। इन सभी विशेषताओं का निर्धारण एवं आधान (सौन्दर्य की मनोगमा प्रक्रिया के आधार पर) उस अवस्था में जाकर होता है जबकि ये सभी विशेषताएँ एकाग्रीभूत एवं परिपुष्ट होकर 'चर्वणा' एवं 'निष्पत्ति' का विषय बन जाती हैं। भावनाओं का यही परिपुष्टिकरण रस (प्रकारान्तर से सौन्दर्य) का उत्स है। रस-रूप धारी सौन्दर्य उन सभी अवधारणाओं की न केवल समग्रीभूत बल्कि सार रूप और उज्ज्वलतम आख्या है। उसका यह परमोज्ज्वल पक्ष लगभग व्याख्यातीत है और उसकी व्याख्या का प्रयत्न 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः' की उक्ति को सार्थक करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

"सा रामणीयकमिधे रधिदेवता वा
सौन्दर्यसार समुदाय निकेतनं वा।
तस्यासखे नियतिमिन्दु सुधामृणाल-
ज्योत्स्नादिकारणम भून्मदनश्च वेधाः॥"[1]

१. भवभूति, मालती माधव, १,२१।

—:०:—

डॉ० अतुलवीर अरोड़ा
सीनियर यू० जी० सी० फैलो,
हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

समकालीन रचनाकार की कृति-चेतना

साहित्य और जीवन, दोनों की मूलभूत अर्थवत्ता सृजन में मानी जा सकती है। यह प्रायः स्वाभाविक ही है कि सृजन प्रक्रिया के दौरान कुछ सर्जनात्मक क्षण इतने तीव्र हो जाएं, जिनके परिणामस्वरूप लेखन और निर्माण का पुराना चौखटाबद्ध संसार खंडित हो जाए तथा एक नया संसार अपनी आँखें खोल सके। साहित्य के संदर्भ में इस संभावना का एक प्रकट इतिहास है, जिसे विभिन्न युगों की विभिन्न महत्वपूर्ण कृतियों, विधाओं और उनसे जुड़े हुए विशिष्ट प्रकार के रचना-तंत्र की खोज में आंका जा सकता है।

समकालीन लेखन का प्रश्न उठाते ही हमारे समक्ष चार प्रचलित और महत्वपूर्ण विधाएं साकार होने लगती हैं—कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास। ये चारों विधाएं सर्जनात्मक लेखन के लिऐ सीधा क्षेत्र खोलती हैं। लेकिन, इन समूची विधाओं के अपने निजी विधा-तंत्र हैं और सर्जनात्मक लेखन की निजी समस्याएँ हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आज जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उस समूचे लेखन-व्यापार में कहां किस 'विधा' में कौन-सा लेखन समय की कुल सच्चाई से जुड़कर प्रमुख भूमिका अभिनीत कर रहा है? यह एक और अकेला प्रश्न समकालीन रचनाकार की 'कृति-चेतना' का नियामक प्रश्न भी हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर की तलाश समकालीन रचनाकार की 'कृति-चेतना' की पहचान के रास्ते पर भी की जा सकती है और स्वयं समकालीन रचनाकार की 'कृति-चेतना' को इस प्रश्न के उत्तर की खोज करते हुए स्पष्ट किया जा सकता है। बहरहाल गन्तव्य दोनों का एक ही है। हम इस लेख में कृति-चेतना के प्रश्न को विधा के तंत्र की खोज से शुरू करके उसे लेखन की मुख्य भूमिका से जोड़ना चाहेंगे।

सबसे पहले कविता। कविता में जीवन की व्यापक और गहरी संवेदना को समेटते और अभिव्यक्ति देते समय कवि को प्रायः एक तेज़ रचना-संघर्ष में से गुज़रना होता है। बावजूद, इस सारे रचना-संघर्ष के, बहुत बार जीवन की गहराई शब्दों की अर्थ-सीमाओं एवं अर्थ-विस्तारों से परे छूट जाती है। अनेक बार कवि कविता 'लिख' लेने के बाद एक अजीब प्रकार के व्यर्थता-बोध से घिर जाता है और 'लिखी हुई कविता' दिखाई दे रहे 'खड़े' विधा-तंत्र के प्रति एक वितृष्णा भरी नजर फेंकने लगता है। रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में यह एक आम घटना हो गयी है परन्तु इसे निराला और मुक्तिबोध के साथ जोड़कर स्थापना के अंदाज़ में सर्जनात्मक लेखन की भूमिका में एक प्रामाणिकता प्रदान की जा सकती है। निराला और मुक्तिबोध—दोनों ने ही अपने-अपने संदर्भ में कविता के 'खड़े' विधा-तंत्र' से असुन्तुष्ट होकर इसकी सीमाओं का अतिक्रमण किया था और उसे एक नये विधा-तंत्र तक ला खींचा था। निराला ने यह अतिक्रमण ज्यादातर शिल्प के स्तर पर ही किया, लेकिन फिर भी छोटी कविता से परे एक नये ढंग की लम्बी कविता के विधा-तंत्र की अपेक्षा उन्हें भीतर ही भीतर लगातार कोंचती रही और 'कुकुर-मुत्ता' में इसका विस्फोटक रचना-व्यक्तित्व पेश हुआ।

यह कविता आश्चर्यजनक ढंग से गढ़ी गयी थी और बाद में स्वयं निराला के इसे काटने, छांटने या संवारने से साफ जाहिर है कि ज़रा-सा समय बीतते ही रचना के विधा-तंत्र के रूढ़ हो जाने की संभावना और सृजन की 'उत्तेजना' और 'आवेश' कवि को उस विधा-तंत्र को पुनः बदलने के लिए प्रेरित करते हैं। मुक्तिबोध ने भी इसी प्रकार अपने स्तर पर कविता के उपलब्ध विधा-तंत्र को लम्बी कविता के उस विधा-तंत्र से जोड़ा, जो उनके अपने जहन, तबीयत और जीवन-वास्तव के खुले साक्षात्कार के अनुकूल पड़ता था। यह विधा-तंत्र पुरानी महाकाव्यात्मक प्रणाली से नितान्त भिन्न था। मुक्तिबोध को तो यहां तक महसूस होता रहा कि उनकी छोटी कविताएं अधूरी हैं और जीवन की गहनता, व्यापकता एवं जटिलता को पकड़ कर सहेजने के लिए लम्बी कविता ही अधिक उपयुक्त है। लेकिन, लम्बी कविता लिखकर उन्हें 'सन्तोष' हुआ हो, ऐसा भी नहीं; क्योंकि उसके बाद उन्हें उस कविता को कहानी का रूप दे देने की इच्छा होती रही।[1] यह कोई बिना वजह ही नहीं, बल्कि इसकी एक झुंझलाहट भरी भूमिका थी। कविता में काव्य-कथा, काव्य-कथा में कथा का केवल आभास और अंततः उसका रूप एक 'एलीगॅरी' (रूपक) का बन जाना ही इस समूची प्रक्रिया को कहानी की प्रक्रिया से जोड़ देने की भूमिका जुटाता है। सवाल यह नहीं कि मुक्तिबोध ने वास्तव में ऐसा किया या नहीं। सवाल यह है कि एक विधा में अपनी 'बात' पूरी तरह न कह पाने की लेखकीय दुर्घटना एक अन्य विधा के मुहाने तक रचनाकार को जिस तरह 'घसीट' या 'खींच' लाती है, वह कहां कितना सर्जनात्मक होने की माँग 'रचनाशील' से करती है? इस सवाल को अपने विरुद्ध तैनात करके कितने रचनाकार हैं, जो इसका सामना करते हैं—यह कहना या तय कर पाना संभव नहीं; फिर भी, लेखक की अपनी आत्मीय सच्चाई और उसमें से उभरता हुआ लेखन का आत्मिक स्वर इसे स्पष्ट कर देता है। लेखन किस ढंग का है, उसके पीछे भाव या प्रत्यय (idea) अपनी अभिव्यक्ति के लिए लेखक को विधा के चुनाव के लिए कितने ठोस रूप में संघर्ष करने की विवशता जुटा सका है, यह पाठ-प्रक्रिया में सहज ही नंगा हो जाता है।

कविता की तरह कहानी भी इधर जीवन के जटिल विस्तार को पकड़ने के लिये छोटी कविता से लम्बी कविता की ओर जाने की प्रक्रिया की तरह छोटी कहानी से लम्बी कहानी की ओर गयी है। ऐसी लम्बी कहानी को एक सम्पादक, लेखक, 'जिंदगी के बीच, आसपास और उसी के समांतर'[1] कहानियों के क्रम में रखता है। हालांकि यही बात छोटी कहानी के संदर्भ में भी कुछ गलत नहीं बैठती। यही नहीं, पूरे समकालीन लेखन के संदर्भ में इस कथन को एक 'सामान्य वक्तव्य' के तौर पर स्वीकार किया जा सकता है। असल में, एक खड़ी विधा के तंत्र में लेखक की 'बात' का उसके ज़हन और तबीयत के अनुकूल, जीवन के वास्तव के खुलेपन का न उतर पाना ही, एक नये विधा-तंत्र की तलाश का कारण माना जा सकता है। लम्बी कहानी के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि जो 'बात' छोटी कहानी में अनकही रह जाती है, लेकिन जिसे अनकहा छोड़ने की मंशा लेखक की नहीं होती या छोटी कहानी में जिस बात के अनकहा रह जाने का अंदेशा होता है, उस अंदेशे और उससे जुड़े हुए सर्जनात्मकता के खतरे को दूर करने के लिये लम्बी कहानी रची जाती है। इसी तरह एक विधा-तंत्र या दूसरे विधा-तंत्र की कमजोर दीवारों को तोड़ा जाता है और नये की ओर प्रयाण किया जाता है।

समकालीन लेखन के ही अंतर्गत 'नाटक' हमारे युग की समूची सर्जनात्मक संभावनाओं की एक विस्फोटक विधा के रूप में सामने आया है। लेकिन इसका संबंध रंगमंच से है और रंगमंच की ज्यादा और बेहतर सुविधाओं के अभाव में इसका युगान्तरकारी विधा-व्यक्तित्व उतनी तेज़ी से खड़ा नहीं हो पाया, जितनी तेजी से पहले-पहल महसूस हुआ था। इसके बावजूद, यह प्रायः तय हो चुका है कि अन्य विधाओं की अपेक्षा यह विधा समकालीन लेखन की सबसे तेज़ विधा है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण 'उपन्यास' का लगातार कमज़ोर होते चला जाना भी है। इसे

१. एक साहित्यिक की डायरी; गजानन माधव मुक्तिबोध; द्वि० सं० १९६८; पृ० : ४३.

१. 'सारिका' में 'अवांतार प्रसंग' के अन्तर्गत लम्बी कहानियों के क्रम में कमलेश्वरने इसे रेखांकित किया है

एक प्रकार की वैफल्यग्रस्तता (फ्रस्ट्रेशन) का ही परिणाम कहा जा सकता है कि जीवन के व्यापक और जटिलतर संदर्भों, परिवेशगत विस्तारों और समस्याओं के विविध कोणी त्रास की गहनताओं को पकड़ने में सर्वाधिक सक्षम विधा (उपन्यास) अपने पंजे लगातार समेटती हुई 'नाटक' की गरिमा के आगे संकुचित और करीब-करीब तुच्छ हो रही है। कविता और कहानी का लम्बा होना कवि और कहानीकार की कृति-चेतना और रचना-संघर्ष का साफ परिचय है, लेकिन 'उपन्यास' का लगातार 'छोटा' और वहाँ भी अपनी 'औपन्यासिकता' खोते चला जाना उपन्यासकार की कृति-चेतना का कौन-सा परिचय माना जाए ? यह एक ऐसा सवाल है, जो कथा-साहित्य और कथाकार (उपन्यासकार) की समसामयिक प्रामाणिकता एवं समकालीन प्रासंगिकता पर तैनात है। यहाँ यह रेखांकित कर देना जरूरी है कि समकालीन उपन्यासकार जो 'भारी-भरकम उपन्यास' जुटाने में लगे हुए हैं, उनके संदर्भ में भी उक्त कथन अपनी पुष्टि मांगता है। क्योंकि, केवल 'उपन्यास' का विस्तृत फलक ही उसकी 'औपन्यासिकता' का सूचक नहीं हो सकता। असल बात उस 'जीवनगत विस्तार की है, जो 'छोटे उपन्यास' में भी संवेदना की तीव्रता और परिवेश से प्राप्त दंश की कलात्मक अभिव्यक्ति में उपलब्ध हो सकता है। इसके लिए जो चीज निहायत जरूरी है, वह है अभिव्यक्ति का 'संस्कार' जो 'उपन्यास' की विधा में से निसृत हो। 'संस्कार' से यहां तात्पर्य 'उपन्यास' के आत्मिक बिम्ब में से झलकते हुए उस तत्व से है जो उससे उसकी विधा नहीं छीनता और लेखक अथवा रचनाकार को अपनी 'बात' कहने के लिए 'विधा' के चुनाव और तदनन्तर उसके अनुकूल अभिव्यक्ति के सारे अनुष्ठान को शक्ल देने के लिए उपयुक्त शब्दों की लड़ाई तक ले जाता है। इसके समूचे कार्यक्रम के बीच सजग तौर पर जो चेतना कार्य करती है, वही कृति-चेतना हो सकती है।

कृति-चेतना सृजन का मूलभूत संदर्भ है। इससे अलग होकर कोई भी कलात्मक, साहित्यिक अथवा प्रतिबद्ध राजनीतिक लेखन या उसकी निजी वादगत भूमिका स्पष्ट नहीं हो सकती। 'कृति-चेतना' प्रगतिशील और उत्थानशील संस्कृति के साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत या किसी भी अन्य अभिव्यक्ति-विधा की संरचना और निर्माण की नींव होती है। इसमें लेखक अथवा रचनाकार द्वारा चुनी गयी उपयुक्त विधा का वाह्य आकार और भाव-संसार, दोनों रक्तबीज की तरह एकनिष्ठ होते हैं। जैसे ही 'चेतन रचना-स्तर' पर कृतिकार अपने विचारों और उनमें निहित भावबोध को अभिव्यक्ति देने के लिए एक रचनात्मक संघर्ष में से गुज़रने की मुद्रा अख्तियार करता है, बिल्कुल उसी क्षण से, उस मुद्रा के अनुरूप विधा की खोज की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। विचारों में निहित भावबोध कृतिकार की मानसिक संरचना का हलका और सशक्त बिम्ब—दोनों एक साथ होता है। किन्हीं तीव्र मानसिक उद्वेगों, उत्तेजनाओं तथा बौद्धिक तार्किक आवेश की पृष्ठभूमि में शब्दों का आलम उमड़ता है और सही, उपयुक्त और प्रामाणिक शब्द के उपयोग और चुनाव की प्रासंगिक खोज शुरू हो जाती है जो पहले तो रचनाकार के ज़हन में विधा के 'खड़े रूप' या स्थापित रूप के अनुकूल होने की कोशिश करती है, लेकिन जैसे ही इस खड़े रूप में सर्जक का सृजन-व्यापार फिट नहीं बैठता; वह एक मेधावी कलाकार की भांति एक नयी विधा की तलाश में अपने रचनात्मक संवेगों के घोड़े दौड़ाने लगता है। ऐसी भंगिमा प्रायः उसे जमाने से आगे ले जाती है। कभी मात्र शैल्पिक स्तर पर कभी शिल्प और भाव-बोध दोनों स्तरों पर। कविता के संदर्भ में, हमारे युग में ऐसा दो बार हो चुका है। पहली बार सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला द्वारा और दूसरी बार गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा। नाटक के संदर्भ में, प्रसाद की महारथ-भूमिका आज अपने अर्थ लगभग खो चुकी है। अधुनातन नाटककार मोहन राकेश की नाट्य रचनाएं भी सृजन की उन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करतीं, जिनसे हिन्दी नाटक की विधा का कोई प्रगल्भ रूप सामने आ सकता हो; फिर भी, बार-बार यही लगता है कि 'नाटक' की विधा का हिन्दी-संसार में अगला चरण इसी दिशा में अन्यतम सृजनात्मक चरण हो सकता है, क्योंकि 'सूर्यमुख' (लक्ष्मीनारायण लाल) और 'कलंकी' (लक्ष्मीनारायण लाल) या 'कोणार्क' और 'पहला राजा' (जगदीशचन्द्र माथुर) अपनी अगली संभावनाएं खो चुके हैं। नाटक की अगली संभावनाएं ज्ञानदेव अग्निहोत्री की नाट्य रचना 'शुतुरमुर्ग'

धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' (अभी-भी) मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस' और कुछ-कुछ 'आधे अधूरे', सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी' और रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' आदि के रास्ते पर ही ढूंढी जा सकती हैं। यह कहना इसलिए और भी जरूरी लगता है कि इन नाटकों में भाषाई स्तर पर एक तेज लड़ाई लड़ी गयी है जो पहले के नाटक में कभी नमूदार नहीं हुई। नाटक की अगली संभावनाओं को आरक्षित करने के लिए हिन्दी नाटककार को उक्त नाटकों की उन सीमाओं से बहुत कुछ सीखना है जो इन्हें एक विशिष्ट ढंग के नाट्य लेखन के घेरे में ले जाती हैं और जहां छद्म लेखन के साथ साथ मिलाने का बहुत बड़ा मंच है। समकालीन नाटककार की कृति चेतना की सबसे बड़ी पहचान इस मंच का विनाश ही हो सकती है।

कृति-चेतना के संदर्भ में समकालीन कहानीकार और उसके द्वारा रची जा रही कहानी की भूमिका देखें तो यह साफ़ महसूस होने लगता है कि आज भी प्रेमचन्द से सीखने के नाम पर जिस चीज की तरफ संजीदगी से निगाह नहीं दौड़ाई गयी है, वह है लेखन के प्रति ईमानदारी। समकालीन कहानीकार 'ईमानदारी' को एक ग़लत ऐतिहासिक संदर्भ की ओर खींच रहा है। सन् ७२ में छपने वाला 'आवेश' और उसमें प्रकाशित अधिकांश कहानियाँ इसकी पुष्टि करती हैं। कृष्ण बलदेव वैद की कहानी (लघु उपन्यास ? 'नसरीन') को पढ़कर यूं लगता है कि इसमें कहानी अपनी अंतिम सांसें तेजी के साथ लेने लगी है। यही बात शोभना सिद्दीकी की 'लब-ब-लब' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उर्दू कहानी में स्थापित मंटो-शैली का भौंडी नक्ल करती ये कहानियां, वस्तु को बीमार संदर्भों से उठाती है और बीमार संदर्भों में ही गिराती हैं। इनकी कोई उच्चतर भूमिका नहीं बल्कि ये कहानियाँ जो कुछ बोलती हैं, वह उनकी आत्मिक सच्चाई भी नहीं लगती। एक ओढ़ा हुआ संसार इनकी भावुक कथा-स्थितियों को और भी दयनीय बना देता है। 'नसरीन' को ख्वाबीपन के बाहर लाने में जहां कृष्ण बलदेव वैद का कहानीकार असफल हो गया है, वहीं शोभना सिद्दीकी की 'शुतुरमुर्ग' की तरह आँखें बन्द कर लेने वाली लड़की अपने कॉलेजी दिनों के लेस्बियन साथी की याद में खोयी, अपने पति मदन से प्रेम करने के इंतजार और बच्चे के होने के बाद 'सब ठीक ठाक हो जायेगा' का फिकरा मन में पीटती हुई, लकीर से जुड़ने की कोशिश में कहानी की अच्छी-भली नींव खोद रही है। सिर्फ भाषा की तेजी और गर्माहट ही तो कहानी को कहानी नहीं बना सकती 'आवेश-७२' में ही प्रकाशित अन्य कहानीकारों में मणिका, मोहनी, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, ज्योत्सना मिलन, सुरेश ऋतुपूर्ण, और वीना रामानंद मिलकर भी कहानी को कोई आवाज़ नहीं दे सके हैं। प्रभात मित्तल (और सूरज टेढ़ा ही निकलता रहा) गोविंद मिश्र (चींटियाँ) अशोक अग्रवाल (गुहावासी) सिद्धेश (अंधेरा), सुदर्शन चोपड़ा (ओ० के०) सुदर्शन नारंग (हस्तक्षेप) और अचला शर्मा (बरदाश्त के बाहर) कहानी को कोई नया स्वर न देकर केवल अपने 'मेनेरिज्म' को चमकाते हैं। इन कहानियों में लेखकीय 'सुपर ईगो' क्रियाशील है, जो कहानी को किसी नयी भूमिका से नहीं जोड़ता। इन सब कहानियों से परे केवल एक कहानी में कहानी की उच्चतर भूमिका की संभावनाएँ हैं और वह है, विजयमोहन सिंह की 'अगला दिन'।

लेखन के प्रति ईमानदारी का सीधा अभाव अपनी स्थापित भंगिमा में 'आवेश-७२' में ही प्रकाशित समकालीन कहानीकारों के 'अगुआ' लेखक गंगाप्रसाद विमल की 'सात कहानियां उर्फ़ अवांतर' में उपलब्ध होता है। इन सात अवांतर कहानियों में एक छद्म चमत्कार और कहानी की विधा का सीधा बहिष्कार करीब-करीब विदूषकी भंगिमा में मिलता है। विधा के साथ यह खिलवाड़ नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

कहानी की अगली संभावनाओं का एक साफ परिदृश्य ज्ञानरंजन (अनुभव) इसराईल (फ़र्क), सतीश जमाली (प्रथम पुरुष), प्रकाश बाथम (दिन कि रात), दूधनाथ सिंह (कबंध) और विजयमोहन सिंह (टट्टू सवार, अगला दिन), इत्यादि में मिलता है, लेकिन इसे निरन्तर साफ़ रखना बड़ा ज़रूरी है। ये लेखक हमारी समकालीनता में चमक कर उभरे हैं और इनकी कहानियां कहानी की विधा को नयी पहचान देती हैं। कहानी के समानान्तर उपन्यास की चर्चा करते वक्त यह ठीक नज़र आने लगता है कि

उपन्यास को समकालीन लेखन के परिदृश्य में अपनी संभावनाओं के लिए अभी बहुत लड़ना शेष है। आज यह कहना बेमौके का बिल्कुल भी नहीं लगता कि प्रेमचन्द के 'गोदान' (१९३६) के बाद हिन्दी उपन्यासकार ने कथा की मुख्य ऐतिहासिक भूमिका से अपने को काट लिया था। प्रायः यही कारण था कि उसके लेखन की रचनात्मक लड़ाई मुख्य मोर्चों पर न होकर गौण मोर्चों पर लड़ी जाने लगी। इन गौण मोर्चों पर खड़े होकर हिन्दी उपन्यासकार 'त्यागपत्र' (१९३७), 'शेखर एक जीवनी' (१९४०-४४), 'नदी के द्वीप' (१९५१), 'पथ की खोज' (१९५१), 'डूबते मस्तूल' (१९५४), 'काले फूल का पौधा' (१९५५), 'दो एकांत' (१९५५), 'सागर लहरें और मनुष्य' (१९५६), 'अंधेरे बंद कमरे' (१९६१), 'अपने अपने अजनबी' (१९६१), एक इंच मुस्कान' (१९६३), 'टूटती इंकाईयां' (१९६४), 'वे दिन' (१९६४), 'अठारह सूरज के पौधे (१९६५), 'मछली मरी हुई' (१९६६), 'रुकोगी नहीं राधिका' (१९६७), 'न आने वाला कल' (१९६८), 'दूसरी बार' (१९६८), 'अपने से अलग' (१९६९), 'आपका बंटी' (१९७०), 'कहीं कुछ और' (१९७१), 'उसका शहर' (१९७०) और 'अन्तराल' (१९७१) आदि कितने ही उपन्यासों में अपनी मुद्राएं और तेवर संभालते रहे। ये उपन्यास कुल मिलाकर सिर्फ एक काम कर पाये और वह यह कि लेखक और पाठक की यात्रा सम्बन्धों के यथार्थ के बेगिनती आयामों की ओर होने लगी। लेकिन, इन उपन्यासों के माध्यम से पनपने वाला एक विशिष्ट किस्म का साहित्य-बोध केवल पाठक की बौद्धिक भूख को जगाने या तृष्टि देने के कार्यक्रम में फंसा रहा। इस साहित्य-बोध ने जन-सामान्य की समूची सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक लड़ाई से एक सस्ते ढंग का उपहास या मखौल किया। इसकी चरम सीमा राजकमल चौधरी की उपन्यास रचनाओं में व्यक्त होती दिखाई देती है। इस दृष्टि से 'देहगाथा' और 'मछली मरी हुई' विशेष उल्लेखनीय हैं। रमेश बक्षी ने भी अपने उपन्यास 'किस्से ऊपर किस्सा' (१९६३) तथा 'चलता हुआ लावा' (१९६८) में उपन्यास की मुख्य और गौण, दोनों भूमिकाओं का बहिष्कार करके एक खास ढंग की दिमागी ऐय्यशी का सुबूत दिया। ऐसे उपन्यासों में, जिनमें साहित्य-बोध के रास्ते पर जन-सामान्य की किसी भी ज़रूरत की पूर्ति नहीं होती थी, बल्कि उसके रोजाना के संघर्ष को एक दिमागी स्खलन की भूमिका से जोड़ा जा रहा था, उनमें शरद देवड़ा का 'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा' और भारी भरकम उपन्यासों के लेखक इलाचन्द्र जोशी का 'ऋतुचक्र' गिनवाये जा सकते हैं। इनमें एक ऐसा लेखन उपलब्ध होता है, जो भरसक लेखक का निजी तुष्टि का परिचय देता है। औपन्यासिक कृति-चेतना की कोई पहचान इनमें सहज तौर पर स्पष्ट नहीं होती। इसका मूलभूत कारण उपन्यासकारों की चामत्कारिक आधुनिकतावादी लेखन-प्रवृत्ति कही जा सकती है, जो उनके व्यक्तित्व में घुसपैठ कर चुकी थी।

प्रेमचन्द के बाद उपन्यास-लेखन की मुख्य भूमिका को निभाने के लिये उपेन्द्रनाथ अश्क ने जो डगमगाता हुआ कदम 'गिरती दीवारें' (१९४७) में उठाया था, वह उनके अपने ही उपन्यासों 'शहर में घूमता आईना' (१९६३) और 'एक नन्हीं किन्दील' (१९७०), में उत्तरोत्तर शिथिल पड़ता गया और यहां तक कि आज उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में अश्क की भूमिका ही नजर अन्दाजी का विषय बन गयी है।

फणीश्वरनाथ रेणु ने इस क्षेत्र में 'मैला आंचल' (१९५४) की रचना में जो कमजोरियां छोड़ी थीं, उन्हीं को 'परतीः परिकथा' (१९५७) में एक अतिरिक्त गरिमा के साथ बड़े पैमाने पर खड़ा करके अपनी औपन्यासिक कृति-चेतना पर स्वयं ही कुठाराघात किया। 'जहाज का पंछी' (१९५५) में इलाचन्द जोशी ने कृति-सत्य के साथ जो खिलवाड़ किया था, उसी की पुष्टि अमृतलाल नागर ने 'बूंद और समुद्र' (१९५६) में प्रायः उसी रेखा पर की। यहाँ तक कि इस प्रकार के खिलवाड़ का एक विशिष्ट कार्यक्रम उपन्यास लेखन की नियति बनता चला गया। इस खतरे से वाकिफ उपन्यासकारों में स्वयं अमृतलाल नागर भी थे। अतः राजेन्द्र यादव ने 'उखड़े हुए लोग' (१९५६), नरेश मेहता ने 'यह पथ बन्धु था' (१९६२), अमृतलाल नागर ने 'अमृत और विष' (१९६६), शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग अलग वैतरणी (१९६७), श्री लाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' (१९६८) और गिरीश आस्थाना ने 'धूप छाँहीं रंग'

(१९७०) इत्यादि में इस नियति के बढ़ते हुए दबाव से हिन्दी उपन्यास को ऊपर उठाने के लिए लेखन की उसी ईमानदारी का परिचय देने की कोशिश की, जो प्रेमचन्द के रक्त में शामिल थी। इस बीच इस भूमिका को और अधिक सशक्त बनाने के लिए 'चेतन रचना स्तर' पर छोटे उपन्यासों की रचना-रेखा पर नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची, (१९४८), 'बलचनमा' (१९५२), और 'वरुण के बेटे' (१९५७) लिखे। शिवप्रसाद मिश्र रुद्र 'काशिकेय' ने 'बहती गंगा' (१९५२) और धर्मवीर भारती ने 'सूरज का सातवां घोड़ा' (१९५२) लिखकर उपन्यास के छोटे रूप के विधा-तंत्र की अलग मिसाल खड़ी की। गिरिराज किशोर का 'लोग' (१९६६) जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का 'एक कटा हुआ आसमान' (१९७०), और गिरिराज किशोर का ही 'जुगलबंदी' इस दृष्टि से उस औपन्यासिक कृति-चेतना की पुष्टि करते हैं जो 'उपन्यास' को अपनी अन्वितियों से बाहर जाकर भ्रष्ट होने की इजाज़त नहीं देती। ये सभी उपन्यास भाषा के नये तेवर जुटाते हैं और इनमें जन-सामान्य की शोषण के विरुद्ध एक घिसटती हुई लड़ाई का परिचय मिलता है जो हमारे मौजूदा वर्तमान और बनते हुए इतिहास की मुख्य और प्रामाणिक भूमिका है। इनमें किसी प्रकार के नकलची साहित्य-बोध से सीधा कटाव और दुराव है। ये उपन्यास सही और प्रामाणिक अर्थों में हमारी वर्तमान शताब्दी की राजनीति और सत्ता के रूढ़ चरित्र के बीच डोलते हुए जनतंत्र में आदमी की समूची इकाई की स्थिति के गम्भीर उपन्यास हैं। यह उपन्यास निश्चय ही हमें हिन्दी उपन्यासकार की कृति-चेतना के प्रति आशान्वित करते हैं। यह आशा पिछले दो-तीन वर्षों में प्रकाश में आने वाले कुछ छोटे बड़े उपन्यासों से और भी मजबूत होने लगती है और यह एहसास करवाती है कि समकालीन उपन्यासकार 'उपन्यास' की मुख्य भूमिका को संभालने और अपनी कृति-चेतना के भीतर घुसपैठ करती हुई एक नकलची संवेदना की दार्शनिक और वैचारिक अभिव्यक्ति को खारिज करने के लिए तत्पर है।[1]

कृति-चेतना के संदर्भ में समकालीन रचनाकार के सामने सबसे बड़ी चुनौति उसके 'निजी' संस्कार और उसकी वर्ग चेतना है, जिससे ऊपर उठकर सृजन की अपेक्षाओं को पहचानते हुए, लेखन को समय की मुख्य ऐतिहासिक भूमिका से जोड़ना है। यह उसके प्राथमिक दायित्वों की भूमि है जिसकी कठोरता और मजबूती की परीक्षा स्वयं उसकी रचना या स्वयं उसका लेखन है। अतः विधा के रूढ़ तंत्र को तोड़ना और खुली अभिव्यक्ति के लिए एक नये विधा तंत्र की तलाश में एक प्रामाणिक और ईमानदार रचना संघर्ष में से गुजरना ही प्रकाश में आने वाली 'कृति' की पृष्ठभूमि में क्रियारत 'चेतना' की पहचान हो सकती है।

---

१. इस दृष्टि से निम्नांकित उपन्यास रचनाएं समकालीन उपन्यास लेखन के क्षेत्र में ठोस कदम मानी जा सकती हैं – 'एक चूहे की मौत' (बदीउज्माँ), 'सफेद मेमने' (मणि मधुकर), 'बेघर' (ममता कालिया); 'वह अपना चेहरा' (गोविन्द मिश्र); 'एक कटा हुआ आसमान' (जगदम्बा प्रसाद दीक्षित); 'जुगलबंदी' (गिरिराज किशोर); 'धरती धन न अपना' (जगदीशचन्द्र)।

—: ० :—

डॉ० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'
रीडर, भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर, (बिहार)

कबीर-साहित्य में छन्दोयोजना

कबीरदास की समस्त रचनाओं का संकलन डॉ० श्याम-सुन्दर दास ने 'कबीर-ग्रन्थावली', में किया है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—(१) साखी (२) पद और (३) रमैणी। इनके अतिरिक्त एक परिशिष्ट भी है, जिसके (१) साखी और (२) पदावली नाम के दो खण्ड हैं। इस परिशिष्ट के अन्तर्गत कबीर की वे साखियाँ और पद हैं, जो श्री ग्रंथ साहब में संकलित हैं, पर इस ग्रन्थावली में इसलिए नहीं आ पाए हैं कि जिन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ग्रंथावली का निर्माण हुआ है, उनमें वे साखियाँ और पद नहीं पाए जाते। कबीर-साहित्य का दूसरा ग्रन्थ है अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा संपादित 'कबीर-वचनावली', जिसमें कबीर साहब के उत्तमोत्तम जनों और साखियों का संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में साखियाँ और द्वितीय खण्ड में पद हैं। 'वचनावली' में कुछ ऐसे पद भी हैं, जो 'ग्रन्थावली' में नहीं पाए जाते। चांद्रायण, मत्तसवैया, विजात, राधिका, हरिगीतिका तथा हंसाल आदि छन्दों में निबद्ध पद ऐसे ही हैं। अपने ग्रन्थ 'कबीर' में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के कुछ पद्य संकलित किये हैं, जिनमें रजनी और विरहिणी छन्द में निबद्ध दो पद ऐसे हैं, जो न तो 'ग्रन्थावली' में प्राप्त हैं और न 'वचनावली' में। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की समस्त रचनाओं का अब तक कोई प्रामाणिक संकलन नहीं निकल पाया है। इन संग्रहों में जो पद्य संग्रहीत किये गये हैं, वे भी सब के सब कबीर के ही हैं, इसका निश्चय करना विद्वानों के लिए टेढ़ी खीर है। डॉ० पारस नाथ तिवारी ने अपने शोध-प्रबन्ध 'कबीर ग्रन्थावली' में ऐसा निश्चय करने का प्रयास अवश्य किया है। फलस्वरूप कबीर के नाम पर प्रचलित अनेक पद—जैसे झीनी झीनी बीनी चदरिया, मो को कहाँ ढूँढ़े बन्दे, ज्ञान का गेंद कर, आदि छोड़ दिये गये हैं। अतः विद्वानों के द्वारा जब तक यह स्वीकार नहीं किया जाता है कि जितने पदों (केवल २०० पद) को तिवारी जी ने कबीर की प्रामाणिक रचना माना है, उतने ही पद कबीर ने कहे हैं, तब तक उनके ही ग्रन्थ के आधार पर कबीर के छन्द प्रयोग की बात नहीं की जा सकती। हाँ, यह अवश्य कहा जाएगा कि तिवारी जी का पाठ छन्दोदृष्टि से बिल्कुल विशुद्ध तो नहीं है, पर 'ग्रन्थावली' से अधिक शुद्ध और 'वचनावली' के बहुत समीप है। अस्तु, कबीर के नाम पर चलने वाली जो रचनायें उक्त तीनों ग्रन्थों में संकलित हैं, उन्हीं के आधार पर इस निबन्ध में हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि कबीर साहित्य में कितने प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।

छन्दोदृष्टि से परीक्षा करने पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि 'ग्रन्थावली' का पाठ बहुत भ्रष्ट है। जिन दो प्रतियों के आधार पर 'ग्रन्थावली' का निर्माण हुआ है, उनके पाठ को छन्दोदृष्टि से देखने-परखने का प्रयास संपादक ने नहीं किया। 'मैं ने आजकल की प्रचलित परिपाटी के अनुसार खराद पर चढ़ा कर सुडौल, सुन्दर और पिंगल के नियमों से शुद्ध बनाने का कोई उद्योग नहीं किया। वरन् मेरा उद्देश्य यही रहा कि हस्तलिखित प्रतियों या ग्रन्थसाहब में जो पाठ मिलता है, वही ज्यों का त्यों

प्रकाशित कर दिया जाए।'[१] 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम धरयौ नहिं हाथ' के आधार पर यदि कबीर पढ़े-लिखे नहीं माने जायें, तो यह निर्विवाद है कि उनके बोलते या गाते समय उनके शिष्यों के द्वारा उनकी रचनायें लिपिबद्ध हुई होंगी। अब यह अनुमान का विषय है कि लिखते समय उनके शिष्यों ने उनकी रचनाओं को कहाँ तक शुद्ध रूप में लिखा होगा और कहाँ कितनी विकृति ला दी होगी। यह तो सोचा नहीं जा सकता कि कबीर ने अपनी खंजड़ी पर जिस रूप में गाया होगा, उनके शिष्यों ने उसे हूबहू कागज पर उतार दिया होगा। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व हो जाना बहुत संभव है। साथ ही कहीं-कहीं एकाध शब्द भी अधिक टपक पड़ा हो, तो आश्चर्य नहीं। उदाहरण के लिये एक पद्य लिया जा सकता है—

समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नहीं गगनां।
रवि ससि दोऊ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवनां।
—ग्र० २१६

उक्त पद्य में 'नाहिं' की जगह 'नाहीं' और 'नहिं' की जगह 'नहीं' रखकर लिपिकर्त्ता ने पद्य को भ्रष्ट कर दिया है। बहुत सम्भव है कि कबीर के मुख से निकली 'नाहिं-नहिं' को उनके अर्द्धशिक्षित चेले ने 'नाहीं-नहीं' लिख डाला हो। विद्वानों का मत भी मेरे कथन के विरोध में नहीं है। वेसकट साहब लिखते हैं—'यह विचारना कठिन है कि वे ठीक उन्हीं शब्दों में लिखी गई हैं, जोकि गुरु के मुख से निकले हैं। और यह बात तो और भी कठिनता से मानी जा सकती है कि उनमें और शब्द नहीं मिला दिये गये हैं।'[२] सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर हरिऔध जी ने 'कबीर-वचनावली' में पाठ का बहुत कुछ संशोधन कर दिया है। 'जहाँ शब्दों के हेर-फेर या ह्रस्व-दीर्घ करने से काम चल गया, वहाँ छन्दोभंग भी नहीं रहने दिया है।'[३]

१. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दरदास ; भूमिका, पृ० ६
२. कबीर एण्ड दी कबीर पंथ, पृ० ४६ (कबीर वचनावली के मुखबंध से उद्धृत, पृ० ३१)
३. वचनावली : मुखबंध, पृ० ३८।

फिर भी 'कबीर-वचनावली' में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। उदाहरण के रूप में एक पद उद्धृत किया जाता है—

साँई [मोर] बसत अगम पुरवाँ (महँ) जहँ (नित) गमन हमार।
आठ कुवाँ नव बावड़ी, (औ) सोरह पनिहार।
भरल छयलवा ठरकि गये रे धन ठाढ़ी मन मार।
छोट छोट उँड़िया [चँ] (चं) दन कै हो छोट (छोट) चार कहार।
जाय उतरिहै वाही देसवा हो, जहँ को [इ] (ई) न हमार।
पाप पुन्न दो [उ] (ऊ) बनियां हो, हीरा लाल अपार।
कह कबीर सुन साइयाँ मो [र] (रा) या हिय देस।
जो गए सो बहुरे [ना] (नहीं) [को] (कौन) कहत [सँ] (सं) देस।
—वचनावली, पद १७१

बड़ी कोष्ठक [ ] के शब्दों को हटा कर छोटी कोष्ठक ( ) के अन्तर्गत शब्दों को रख देने तथा रेखांकित अक्षरों का ह्रस्वोच्चारण करने से (जो ब्रजभाषा की विहित परिपाटी है), यह पद छन्दोदृष्टि से निर्दोष हो जाता है और इसमें वाँछित प्रवाह (२री और ७वीं पंक्तियों में दोहे का, शेष में सरसी का) आ जाता है। यदि 'मोर' शब्द को हटाना आपत्तिजनक हो, तो 'साईं-मोर' के सभी दीर्घों का लघुच्चारण कर चरण में प्रवाह लाया जा सकता है। मेरा अनुमान है कि कबीर ने लय को ध्यान में रखते हुए अवश्य वैसा गाया होगा, जैसा मेरा प्रस्तावित पाठ है। लिपिकर्त्ता ने पाठ को चौपट कर दिया है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' में १०० तक तो वे पद्य हैं, जिनका संकलन क्षितिमोहन सेन ने छपी पोथियों की अपेक्षा साधुओं के मुँह से सुनी हुई वाणियों को अधिक ठीक मान कर किया था।[१] ऐसे पद्यों में छन्दोदृष्टि से शुद्ध पाठ होने की क्या सम्भावना की जा सकती

१. कबीर : हजारी प्र० द्विवेदी, पृ० २२५

है ? इनके अतिरिक्त जो द्विवेदी जी द्वारा संकलित १५५ पद्य हैं; उनका पाठ भी उतना शुद्ध नहीं, जितना 'वचनावली' का। हाँ, 'ग्रन्थावली' की अपेक्षा इनका पाठ अवश्य शुद्ध कहा जायेगा।

ऐसी दशा में कबीर-साहित्य के छन्दों का निरूपण मात्रा-गणना पर अधिक जोर नहीं देकर बहुत कुछ लय के आधार पर ही हो सकता है। इसके लिये कहीं ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व उच्चारण करना पड़ेगा। कहीं कुछ शब्दों को (जिनके हटा देने पर भी अर्थ में कोई व्याघात नहीं पड़ता) हटाना पड़ेगा और कहीं लय-युक्त पंक्तियों के मेल में आई हुई लय-खण्डित पंक्तियों में भी वही लय मान लेना पड़ेगा। लय के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण अपनाकर ही हम देख पायेंगे कि कबीर की प्रायः समस्त रचनायें छन्दोबद्ध हैं।

'साखी' में मुख्यतः दोहे का प्रयोग हुआ है। कतिपय सोरठे[1] और छप्पय[2] भी मिल जाते हैं। कहीं कहीं दोहे के सम चरणों में प्रयत्न-शैथिल्य-वश दो मात्राओं की वृद्धि भी दिखलाई पड़ जाती है। यथा--

कबीर मारग अगम है, सब मुनि जन बैठे थाकि।

—क० ग्र० पृ० ३१।

यहाँ समचरण में दो मात्रायें अधिक हैं। भाषा की दृष्टि से 'मुनिजन' के लिए 'सब' विशेषण की आवश्यकता नहीं। यदि रहे तो यह दोहकीय की पंक्ति कही जायेगी। छन्दःशास्त्रानुसार दोहे के प्रारम्भ में 'कबीर' जैसा जगणात्मक शब्द नहीं रहना चाहिए। नाम से प्रारम्भ होने वाले दोहों के चरणों में 'वचनावली' में 'कबिरा' का प्रयोग देखा जाता है, जो छन्दोदृष्टि से ठीक है। जैसे—

कबिरा सुमिरै तासु को, जागे भुजा अनन्त।

—क० व०, पृ० १

इसी प्रकार 'वचनावली' में हंसाल छन्द में निबद्ध पदों में 'कबीर' की जगह 'कब्बीर' का प्रयोग पाया जाता है, जो छन्द की दृष्टि से ठीक है। जैसे—

कहै कब्बीर ह्वां भिस्त दोजक थके
वेद कीताब काहूत काजी।

—क० व०, पृ० ९२

इसी प्रयत्न-शैथिल्य-वश 'साखी' के अन्तर्गत कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं, जिनमें दोहों के समचरणों में कहीं मात्रा की न्यूनता है, तो कहीं अधिकता। साथ ही इन सम चरणों के अंत में ऽ। भी नहीं है, जिसका रहना दोहे में अनिवार्य है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) सुखिया सब संसार है, खाये अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवै।

—क० ग्रं०, पृ० ११

(ख) मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे (है) मेरा।

—क० ग्रं०, पृ० १९

'क' के 'अरू' के 'रू' का यदि ह्रस्वोच्चारण हो और 'ख' के दूसरे समचरण में यदि 'है' जोड़ दिया जाय; तो इन दोनों पद्यों में प्रवाह आ जाता है और दोनों क्रमशः उपमान[3] और मुक्तामणि छन्द की पंक्तियाँ हो जाती हैं। क्या ऐसी विकृति लिपिकर्त्ता के प्रमाद से संभव नहीं? क्या ऐसे दोषों को भी कबीर के सिर मढ़ना होगा? ऐसे पद्यों के अतिरिक्त 'साखी' में कुछ ऐसे पद्य भी हैं, जो दोहे में न लिखे जाकर अन्य छन्दों में लिखे गये हैं। जैसे—

(क) जिहि घट जाण विनांण है, तेहि घटि आवटयां घणां।
बिन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सों झझणां।

—क० ग्रं०, पृ० ५१

(ख) धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब (सब) हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा।

—क० ग्रं०, पृ० १४

१. क० ग्रं०-श्यामसुन्दर दास : मन को अंग, पद्य ७, पृ० २८, कामी नर कौ अंग, पद्य ८, पृ० ३९, साध औ अंग, पद्य १० पृ० ५०।

२. क० ग्रं०, विचार कौ अंग, पद्य ९, पृ० ५६, बेसास कौ अंग, पद्य १, पृ० ५७।

३. इसी प्रकार निम्न पद्य भी उपमान में निबद्ध माना जायेगा—
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूं।
—क० ग्रं०, पृ० १५

'क' उल्लाला (१३ मा०) में निबद्ध है और प्रथम चरण में रेखांकित अक्षरों का ह्रस्वोच्चारण करने तथा दूसरे में 'सब' जोड़ देने से 'ख' सार की पंक्तियाँ हो जाती हैं। अब विचारा जाय, कबीर के मुँह से निकली हुई 'नहिं' ने क्या लिपिकर्त्ता की असावधानी से 'नहीं' का रूप धारण नहीं कर लिया है ? दूसरी पंक्ति में अर्थ-संगति के लिये 'सब' का रहना आवश्यक है। लिपिकर्त्ता ने इस पर ध्यान नहीं दिया और कबीर के शुद्ध पद्य को भ्रष्ट कर दिया। इसलिए ऐसी हस्तलिखित प्रतियों पर आस्था नहीं कर संपादन-काल में ऐसी त्रुटियों को एकदम दूर कर देना चाहिए। एक पद्य है—

सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि।
—क०ग्रं०, पृ० १६

उक्त पद्य की पहली पंक्ति सरसी की है और दूसरी दोहे की। पर दोनों में अपेक्षित प्रवाह का अभाव नहीं। यहाँ हम लिपिकर्त्ता को दोषी नहीं ठहरा सकते। कवि ने अपने भाव को ठोंक-पीट कर एक छन्द के चौखटे में बिठाने का प्रयास नहीं किया है। उसका भाव बह कर समान लय वाले दो छन्दों में प्रसरित हो गया है।

'रमैंणी' की रचना कड़वक-बद्ध शैली में हुई है, जिसमें कुछ चौपाइयों के बाद दोहे में घत्ता दिया गया है। चौपाइयों के अन्दर चौपाई-चौबोले की भी दो-चार पंक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि यह 'रमैंणी' कबीर की ही रचना हो, तो यह निर्विवाद है कि हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश की कड़बक शैली को उपस्थित करने वाला पहला कवि कबीर है। तदुपरान्त जायसी ने 'पद्मावत' में और तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में इसी शैली को अपनाया। अवश्य 'पद्मावत' और 'मानस' में चौपई को प्रश्रय नहीं मिला है; पर सूरदास तथा नन्ददास ने चौपाई-चौबोले के साथ चौपई का भी प्रयोग किया है। छन्दो-दृष्टि से 'रमैंणी' का पाठ भी शुद्ध नहीं कहा जा सकता। चौपाइयाँ तो कुछ ठीक भी हैं, पर दोहे तो बहुत भ्रष्ट हैं। खोजने पर शायद दो-चार शुद्ध निकल आवें। दोहों की यह दुर्दशा एक बार सोचने को विवश करती है कि क्या यह रचना कबीर की ही हो सकती है ? जो हो, इस पदेतर साहित्य में जो छन्द मिलते हैं, वे हैं—दोहा, सोरठा, छप्पय, उल्लाला, उपमान, मुक्तामणि, सार, सरसी, चौपाई, चौपई और चौबोला। इनमें सोरठा, छप्पय और उल्लाला ऐसे छन्द हैं, जो पदों में उपलब्ध नहीं होते। शेष छन्द पद साहित्य में भी मिलते हैं।

कबीर-साहित्य का एक भाग पद-साहित्य है। पद की रचना कभी तो आद्योपांत एक ही छन्द में और कभी दो-तीन छन्दों के मेल से होती रही। कबीरदास के पदों के साथ भी यही बात है। कतिपय पद तो आद्योपांत एक ही छन्द में निबद्ध हैं, और कुछ की रचना दो-तीन छन्दों के मेल से हुई है। कबीर के सम्पूर्ण पद-साहित्य में ३७ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। यदि इनमें पदेतर साहित्य के तीन छन्द (छप्पय, सोरठा, उल्लाला) जोड़ दिए जायें, तो छन्द:प्रकार की संख्या ४० हो जाती है। इन्हीं ४० प्रकार के छन्दों में कबीर का सम्पूर्ण साहित्य सिमटा हुआ है। ये चालीस छन्द निम्नलिखित हैं—

समछन्द—

महानुभाव, उल्लाला, हाकलि, सखी, कज्जल, विजात, चौपई, चौबोला, चौपाई, पद्धरि, उपवदनक, हँसगति, चाँद्रायण, राधिका, कुँडल, उपमान, रजनी, विरहिणी, रूपमाला, रोला, मुक्तामणि, विष्णुपद, गीता, गीतिका, सरसी, सार, हरिगीतिका, मरहटा, माधवी, ताटंक, वीर, समान सवैया, मत्तसवैया, वदन सवैया, हंसाल और झूलना=३५।

अर्द्धसम—

दोहा, सोरठा, दोही, दोहकीय=४

मिश्र—

छप्पय=१

इनमें महानुभाव, कज्जल, चौबोला, हंसगति, विरहिणी, गीता, गीतिका, दोहकीय और दोही का प्रयोग केवल प्रागाथिक (अन्य छन्दों के साथ) रूप में हुआ है। शेष छन्द स्वतन्त्र और प्रागाथिक दोनों रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। आगे की पंक्तियों में प्रत्येक छन्द का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(१) महानुभाव (१२ मा०)

मैं डोरै डोरै जाऊँगा,
तो मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ।। टेक
सूत बहुत कछु थोरा,
ताथैं लाई लै कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा,
तब जरा मरण भौ भागा । (ग्रं० ३१)

इसमें ३री और पाँचवीं पंक्ति महानुभाव की है। १ली और ४थी चौपाई की तथा ६ठी सखी छन्द की है। दूसरी पंक्ति, जो टेक के रूप में अनेक बार आवृत्त हुई है भिखारी दास के माली छन्द की है, जो चौपाई के अन्त में एक गुरू के योग से बन जाता है। इसी प्रकार महानुभाव का प्रयोग चौपाई के साथ 'ग्रन्थावली' के पद १८५,२६५ और 'वचनावली' के पद ३५ में हुआ है। चौपाई के अतिरिक्त इसका प्रयोग हाकलि (ग्रं० २८६) सखी (ग्रं० २९४, परिशिष्ट ५३, १९७) चौपाई हाकलि (परिशिष्ट ८१, ९४, ११६, २२२) तथा चौबोले (परिशिष्ट ९६) के साथ भी उपलब्ध होता है।

(२) उल्लाला (१३ मा०)

उल्लाला का प्रयोग किसी पद में नहीं हुआ है। केवल 'साखी' के अन्तर्गत (साध साषीभूत कौ अंग) इसकी चार पंक्तियाँ मिलती हैं जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है।

(३) हाकलि (१४ मा०)

दुइ सेर माँगौ चूना। पाव घीउ संग लूना।
अधसरे माँगौ दाले। मो कौ दोनों वखत जिवाले।
—परिशिष्ट १५६

रेखांकित अक्षरों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है। चौथी पंक्ति चौपाई की मानी जायेगी। इस पद के अतिरिक्त हाकलिका प्रयोग चौपाई (ग्रं० २१, ३१, ३२, व०१५१) तथा ताटंक (ग्रं० २४३) के साथ भी हुआ है।

(४) सखी (१४ मा०)

जब राम रसांइन पीया।
तब काल मिट्या जन जीया।
यूँ दास कबीरा गावै ।
ताथै मन को मन समझावै।
—ग्रं० १७३

इसमें प्रथम तीन पंक्तियाँ सखी की, अन्तिम चौपाई की हैं। इस पद के अतिरिक्त ग्रं० के २६२, २७६, २८२, २९६ और परिशिष्ट का पद १४५ भी सखी छन्द में ही निबद्ध है।

(५) कज्जल (१४ मा०)

पुहुप पुराने गए सूख। लगी भँवर को अधिक भूख।
उड़ न सकत बल गयो छूट। तब भँवरा रोवै सीस कूट।
—व० १५२

कज्जल का स्वतंत्र प्रयोग नहीं मिलता। यहाँ प्रथम-तीन पंक्तियाँ कज्जल की और अंतिम पद्धरि की हैं। इसी प्रकार ग्रं० के ३७७, ३८८, परिशिष्ट के २२, १२५, १३१, १४२ तथा व० के पद १५२ में भी कज्जल-पद्धरि का मिश्रित प्रयोग हुआ है।

(६) विजात (१४ मा०)

कठिन यह मोह की धारा। बहा सब जात संसारा।
घड़ा जो नीर का फूटा। पता जो डार से टूटा।
—व० २१४

विजात के केवल २ पद (१०६, २१४) वचनावली में प्राप्त होते हैं।

(७) चौपाई (१५ मा०)

रिदा कवल मैं राखि लुकाइ,
प्रेम गांठि दे ज्यूँ छूटि न जाइ।
अठ सिधि नव निधि नांव मंझारि
कहै कबीर भजि चरन मुरारि। —ग्रं० १२३

चौपाई का स्वतंत्र प्रयोग १५ पदों (ग्रं० १०, परिशिष्ट ५) में हुआ है। इनके अतिरिक्त ग्रं० के ३९, परि-

शिष्ट के ३६ और व० के ५ पदों में इसका मिश्रण चौपाई के साथ पाया जाता है।

(८) चौबोला (१५ मा०)

सिध सोई जो साधै इती।
नाथ सोइ जो त्रिभुवन जती।

— ग्रं० ३२७

चौबोले का प्रयोग स्वतंत्र रूप से किसी पद में नहीं हुआ है। ग्रं० के चार (५६, ३२६, ३५३, ३९५) और परिशिष्ट के एक पद (७८) में इसका मिश्रण चौपाई के साथ हुआ है तथा ग्रं० के सात पदों (४५, ८४, १६४, २३६, ३२६, ३४६, ३६२) में यह चौपाई के साथ प्राप्त होता है।

(९) चौपाई (१६ मा०)

मंगलचार माँहि मन राखौ।
राम रसांइण रसनां चाषौं।
मंदिर मांहि भया उजियारा।
ले सूती अपना पीव पियारा। — ग्रं०, पद २

चौपाई का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के १०३, परिशिष्ट के ४६ तथा 'वचनावली' के २० पदों में हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग चौपाई और चौबोले के साथ भी हुआ है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। कुछ ऐसे पद भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें चौपई, चौपाई और चौबोले का मिश्रण पाया जाता है। कुछ पदों में इन तीनों अथवा किन्हीं दो के साथ दोहे का भी मेल हो गया है। ऐसे पद हैं—परिशिष्ट का पद १५२, व० के ४४, ५२, ५५, ५६, ५७ तथा २०२.

(१०) पद्धरि (१६ मा०)

मैं अजर दीप पहुँच्यों सुजाइ।
तहँ अजर पुरुष के दरस पाइ।
सो कह कबीर हृदया लगाइ।
यह नरक उधारन नाम जाइ।

—व०, पद १९

पद्धरि का स्वतंत्र प्रयोग व० के ६ पदों (१६, ४३, ४६, ५० ११६, १६२) तथा परिशिष्ट के २१२ वें पद में हुआ है। इसका मिश्रण कज्जल के साथ तो हुआ ही है, व० के पद ११७ में चौपई के साथ भी इसकी कतिपय पंक्तियाँ देखी जाती हैं।

(११) उपवदनक (१७ मा०)

जोगिन जंगम मुनि दरवेसवा।
आदि न अंत न काल-कलेसवा।
दास कबीर ले आए सँवेदना।
सार शब्द नहिं चलु वोहि देसवा।

—व०, पद २२२

भगणांत (ऽ।।) पाद वाली चौपाई के अंतिम लघु को दीर्घ कर देने से उपवदनक छन्द बन जाता है।[१] उपवदनक का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के पद २९ में माना जा सकता है। पर उस की पंक्तियाँ बड़ी अस्त-व्यस्त हैं। परिशिष्ट के पद ७ और व० के २२२ में इसका प्रयोग चौपाई के साथ हुआ है, तथा परिशिष्ट के पद ८७ और ९५ में चौपाई के साथ।

(१२) हंसगति (२० मा०)

खरा न खोटा ना परखाँना।
लाहे कारनि रे सब मूल हिरानां।
सकल दुनीं मैं लोभ पियारा।
मूल ज राखैं रे सोई वनिजारा।

—ग्रं०, पद २३४

हंसगति का प्रयोग स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ है। बस, इसी पद में चौपाई की एक-एक पंक्ति के साथ इसकी एक-एक पंक्ति उपलब्ध होती है। यहाँ प्रथम-तृतीय पंक्ति चौपाई की है और द्वितीय-चतुर्थ हंसगति की।

(१३) चांद्रायण (२१ मा०)

चल सतगुरु की हाट ज्ञान बुध लाइये।
कर साहब सों हेत परम पद पाइये।
सतगुरु सब कछु दीन देन कछु नहिं रह्यो।
हमहिं अभागिन नारि छोरि सुख दुख लह्यो।

—व०, पद ६४

(१) देखिये—मेरा शोधप्रबन्धः सूर साहित्य का छन्दः—शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११०।

चांद्रायण के केवल ६ पद (२४, ६१, ६२, ६४, ११०, २२८) 'वचनावली' में मिलते हैं ।

(१४) राधिका (२२ मा०)

सुन (कर) सतगुरु की तान नींद नहिं आती .
विरहा में सूरत गई पछाड़े खाती ।
तेरे घर में हुआ अँधेरे भरम की राती ।
नहिं भई पिया से भेंट रही पछताती ।

—व०, पद १०८

राधिका छन्द में निबद्ध केवल यही एक पद कबीर-साहित्य में मिलता है । भारतेन्दु के पूर्व, इस पद को छोड़ कर, कहीं राधिका छन्द देखने में नहीं आया । अतः इस पद को कबीर की रचना मानने में संदेह की पूरी गुंजाइश है । प्रथम पंक्ति में दो मात्राओं की कमी थी, जिसकी पूर्त्ति 'कर' को रख कर दी गई है ।

(१५) कुंडल (२२ मा०)

दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई ।
यामैं कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ।
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां ।
तेऊ उतरि पार गये, रांम नांम लीन्हां ।

— ग्रं०, पद ३२०

कुंडल का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के ५ (१६०, २१०, २१६, ३२०, ३२१) और व० के एक पद (४७) में हुआ हैं ।

(१६) उपमान (२३ मा०)

बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका ।
वाके नजर न आवता क्या राजा रंका ।
धरती तो आसन किया तंबू असमाना ।
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना ।

—व०, पद ७२

उपमान का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के पांच (१५६, १८८ १६०, ३६३, ३७३) परिशिष्ट के तीन (६५, ७३, १४१) और व० के चार पदों (७१, ७२, १०३, १७७) में हुआ है । इसके अतिरिक्त ग्रं० के दो पदों (१४, १८१,) में इसका प्रयोग सार के साथ और दो पदों (१६१, १७८) में मुक्तामणि के साथ भी हुआ है ।

(१७) रजनी (२३ मा०)

चलत मनसा अचल कीन्हीं, मन हुआ रंगी ।
तत्त्व में निःतत्व दरसा, संग में संगी ।
बंधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड़ सब तंगी ।
कहै कबीर अगम गम कीया, प्रेम रंग रंगी ।

—कबीर : पद १६७

रूपमाला के अंतिम लघु को निकाल देने से रजनी छन्द बन जाता है ।[1] रजनी का केवल एक यही पद हजारी प्र० द्विवेदी द्वारा संकलित 'कबीर' में मिलता है । ४८ वें पद में ऊपर की चार पंक्तियाँ ही ज्यों की त्यों उद्धृत हैं ।

(१८) विरहिणी (२३ मा०)

प्रेम-पियाला पियाइ के हो पिया पिया बौराय ।
विरह अगिनि तन तलकै हो जिय कछु न सोहाय ।
ऊँच अटरिया चढ़ि वै (ढ) (ठूं) (लूं) हो जहँ काल न जाय ।
कहै कबीर विचारि के हो जम देख उराय ।

—कबीर : पद १८०

विरहिणी छन्द में निबद्ध केवल यही एक पद मिलता है, जो छन्दोदृष्टि से बहुत अस्त-व्यस्त है । किन्तु, है यह उसी छन्द में निबद्ध, जिसमें विद्यापति ने निम्नाँकित पद लिखा है—

विपत अपत तरु पाओल रे पुन नव नव पात ।
बिरहिन नयन बिहिल विहिरे अविरल बरसात ।

—वि० पदावली : बेनीपुरी, पद २०७

कबीर के इसी पद के अन्तर्गत तीन पंक्तियां बिना 'हो' के हैं, जो किसी तरह दोहा और सरसी की मान ली जा सकती हैं ।

(१९) रूपमाला (२४ मा०)

नैन का दुख बैन जांनैं, बैन का दुख श्रवनां ।
प्यंड का दुख प्रांन जांनैं, प्रांन का दुख मरनां ॥

---

१. रजनी नाम के लिए देखिये—आ० हि० काव्य छन्द योजना, डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० २८५

ग्रास का दुख प्यासा जानैं, प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख रांम जानैं, कहै दास कबीर।
—क० ग्र०, पद २८६

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों के अंत में ऽ। नहीं है। साथ ही एक मात्रा भी अधिक है, पर लय रूपमाला की ही है। उक्त पद के अतिरिक्त रूपमाला का स्वतंत्र प्रयोग ग्र० के ३०१ और ३१४ में माना जा सकता है। गीता के साथ मिश्रित रूप में यह छन्द ग्रं० के पद २३७, २४५, २५८, २८०, २८६, ३०९ और परिशिष्ट के ७२, १४४ तथा १९१ में उपलब्ध होता है।

(२०) मुक्तामणि (२५ मा०)

प्यंड परें जीव कहां रहै, कोई मरम लखावै।
जीवत जिस घरि जाइये, ऊंधै मुषि नहीं आवै।
सतगुरु मिलै त पाइये, ऐसी अकथ कहाणी।
कहै कबीर संसा गया, मिले सारंग पांणी।
—क० ग्र०, पद १५४

मुक्तामणि का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के तीन पदों (१२७ १५४ ३९८) में हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका मिश्रण उपमान (ग्रं० १६१, १७८) ताटंक-सार-समान सवैया (ग्र० २१२) तथा सार (व० २०९, २११, परिशिष्ट ६०) के साथ भी हुआ है।

(२१) विष्णुपद (२६ मा०)

मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी।
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरग चरी।
सीया को हरि लैंगो रावन सुबरन लंक जरी।
—क० व०, पद ११४

विष्णुपद का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० (२४८, ३०४, ३९९) परिशिष्ट (१०२, १२९, १७२) तथा वह (८८, ११४) सब में उपलब्ध होता है। ग्रं० के पद ५४, २६९ में सार के साथ और पद १६९ में तांटक के साथ इसका मिश्रण हुआ है।

(२२) गीता (२६ मा०)

जहाँ स्वाति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन में नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ।
—क० ग्रं०, २८०

गीता का प्रयोग स्वतंत्र रूप से किसी पद में नहीं हुआ है। रूपमाला के साथ कई पदों में इसकी पंक्तियाँ मिलती हैं, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

(२३) गीतिका (२६ मा०)

दाँम छै पणि कांम नांही, ग्यांन छै पणि धंधरे।
श्रवण छै पणि सुरति नांही, नैंन छै पणि अंधरे।
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तंरग रे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोव्यंद रे।
—क० ग्र०, पद ३९०

गीतिका का स्वतंत्र प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। हरिगीतिका के साथ मिली हुई इसकी पंक्तियाँ तीन पदों (ग्र० ३९०, ३९१ ३९२) में प्राप्त होती हैं।

(२४) सरसी (२६ मा०)

सुमुझि सोच पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
लोक-लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय।
नैहर बास वसी पीहर में लाज तजी नहिं जाय।
—क० व०, पद ९६

सरसी का स्वतंत्र प्रयोग ग्र० के ६ (३०५, ३०६, ३१२, ३१३, ३१५, ४००) और व० के ७ पदों (९६, १४१, १४५, १५०, १५८, १७६, १९५) में हुआ है। पद १५० और १९५ में इसके चरणांत में ऽ। की जगह ।ऽ पाया जाता है। जैसे—

काह भए नर कासि बसे से का गंगा-जल पिए। (पद १५०)। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ भी उपलब्ध होता है। यथा—

सरसी+सार+दोहा=परिशिष्ट पद ११५

सरसी+सार=ग्र० पद १, ६, २२, ८१, २०८, व० पद ६,२३ परि० ७०, १०५, ११७

सरसी + दोहा + ग्रं० पद १८, परि० पद २६, १३७ व० पद १७१

सरसी + वीर = परि०, पद ६८

सरसी + दोहा + दोहकीय + सार = ग्रं० पद १६८

(२५) सार (२८ मा०)

आँखी मद्धै पाँखी चमकै पाँखी मद्धे द्वारा।
तेहि द्वारे दुरबीन लगावे उतरे भौ-जल पारा।
सुन्न सहर में बास हमारा तहुं सरबंगी जावै।
साहब कबिर सदा के संगी सब्द महैल ले आवै।

—क० व० पद ३०

सार का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं० के ११६ परि० के ५६ तथा व० के ६१ पदों में प्राप्त होता है। सूर- तुलसी की तरह कबीर ने भी सब से अधिक पद सार में ही रचे हैं। सार का मिश्रण अन्य छन्दों के साथ भी हुआ है। यथा—

सा + ताटंक = ग्रं०, पद १८३, २४४, २६७, परि० १०१, १६५

सार + दोहा = ग्रं० पद १३, १०६ परि० पद १६८

सार + तांटक समान सवैया = ग्रं० पद २६३, परि० पद ८०

(२६) हरिगीतिका (२८ मा०)

सुनता नहीं धुन की खबर, अनहद्द बाजा बाजता।
रसमंद मंदिर गाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ।
गाँजा अफीमो पोस्ता, भाँग औ शराबें पीवता।
इस प्रेमरस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ।

—क० व०, पद १६४

हरिगीतिका का स्वतंत्र प्रयोग बस इसी उक्त पद में हुआ है। गीतिका के साथ इसका जो मिश्रण तीन पदों में उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। ग्रं० के पद हुआ है २४० में कुंडल की टेक के बाद इसकी लय वाली चार पंक्तियाँ मिलती हैं, जो बहुत अस्त व्यस्त हैं।

(२७) मरहटा माधवी (२६ मा०)

ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी ना मैं छुरी गँडास में।
नहीं खाल में नहीं पोंछ में ना हड्डी ना मास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रियाकर्म में नहीं जोग बैराग में।

—क० व०, पृ० पद २७

मरहटा माधवी का स्वतंत्र रूप से प्रयोग ग्रं० के दो (३०७, ३५०) परिशिष्ट के एक (१५) तथा व० के छः पदों (२७, ६४, १००, १३०, १४७, १४८) में हुआ है। परिशिष्ट के पद ४१ में इसकी पंक्तियाँ ताटंक के साथ उपलब्ध होती हैं तथा पद २४, ६१, १६० में इसका मिश्रण सार के साथ हुआ है।

भानु ने मरहटा माधवी में ११-८-१० पर यति तथा अंत में ।ऽ माना है। पर ऐसा छन्द केवल उनके 'छन्दः-प्रभाकर' में ही देखने को मिलता है। सर्वत्र मरहटा माधवी का यही १६-१३, अंत में ।ऽ वाला रूप दिखलाई पड़ता है। अतः इसे ही मरहटा माधवी मान लेना युक्तिसंगत है।

(२८) ताटंक (३० मा०)

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, सब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधु को सोखै नहिं कछु जात बखानी हो।
चाँद सुरज तारागणा नहिं वहँ नहिं वहँ रैन बिहानी हो
बाजे बजै सितार बाँसुरी ररंकार मृदु बानी हो।

—क० व०, पद २२

ताटंक का स्वतंत्र प्रयोग ग्रं के १० (१६,४८ आदि) परिशिष्ट के ७ (१८, ३४ आदि) तथा व० के २६ पदों (२, १०, ११ आदि) में हुआ है। व० के पद १५६ में ताटंक और समान सवैये का मिश्रित रूप दिखलाई पड़ता है।

(२६) वीरछन्द (३१ मा०)

सुरपुर लूट नाग पुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पिछार।
स्त्रिंगी की मिंगीं करि डारी पारासर के उदर बिदार।
कनफूंका चिदकासी लूटे लूटे जोगेसर करत विचार।

—क० व०, पद २१६

वीरछन्द का स्वतंत्र प्रयोग व० के दो (१२१, २१६) तथा ग्रं० के परिशिष्ट के एक पद (११३) में हुआ है।

परिशिष्ट के पद ६८ में सरसी के साथ इसकी कतिपय पंक्तियाँ मिलती हैं।

(३०) समान सवैया (३२ मा०)

जो जन नाम अमल रस चाखा
तर गइ गनिका सदन कसाई।
कह कबीर गूंगे गुड़ खाया
बिन रसना का करै बड़ाई।
—क० व०, पद ३७

समान सवैया का प्रयोग स्वतंत्र रूप से ग्रं० के दो (२२६, २७४) तथा व० के १८ पदों (३७, ९५,९९ आदि) में हुआ है।

(३१) मत्तसवैया (३२ मा०)

कहूँ चोर हुआ कहूँ साह हुआ
कहूँ बाम्हन है कहूँ सेख है जी।
कबीर मिला मुरशिद उसमें
हम तुम नाहीं वह एक है जी।
—क० व०, पद ८६

(काले अक्षरों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

मत्तसवैये के केवल तीन पद (८५, ८६, ११३) 'वचनावली में मिलते हैं।

(३२) वदन सवैया (३३ मा०)

इंगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै
पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
—क० व०, पद २२३

वदनसवैये का प्रयोग केवल उक्त पद में हुआ है। चौपाई और उपवदनक के चरणों को एक इकाई मान लेने पर वदन सवैये का निर्माण हो जाता है।[1]

(१) द्रष्टव्य : सूरसाहित्य का छन्द : शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २५९

(३३) हंसाल (२०-१७)

ज्योति परकास में निरखि निस्तत्व को
आप निर्भय हुआ भय मिटाई।
अलख निरगुन करै वेद जेहि अस्तुती।
तीन हूँ देव को है पिताई।
—क० व०, पद १७

ग्रं० में एक (१९९) और व० में दस पद (१७, १८ २८, आदि। हंसाल के प्राप्त होते हैं।

(३४) झूलना (१०-१०-१०-७)

शब्द को खोजिले शब्द को बूझि ले
शब्द ही शब्द तू चलो भाई।
शब्द आकास है शब्द पाताल है
शब्द ते पिंड ब्रह्मांड छाई।
—क० व०, पद ४०

झूलना के दो पद (४०, ८०) 'वचनावली' में प्राप्त होते हैं।

(३५) दोहा (१६-११-१३-११)

सुपने में साँई मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूं डरपता मत सुपना ह्वै जाय।
—क० व० पृ० ७०

कबीरदास ने दोहे का प्रचुर प्रयोग किया है। साखी और रमैणी के अतिरिक्त अनेक पदों (ग्र० ४, ११९, १२१ २५७, ३६८; परि० ५, ३१, ४२, १८३, २१४; व० १६०)की रचना दोहे में की है। ग्र० के पद ४ में संगीत के लिये प्रत्येक चरण के अंत में 'रे' की योजना की गई है। यथा—

मन के मोहन बीठुला, बहु मन लागी तोहि रे

परिशिष्ट के पद ५ के विषम चरणो के अंत में 'वैरागी अड़े' और सम चरणों के अंत में 'वणा हंबै' की टेक दी गई है—

अनभौ कि नैन देखिया बैरागी अड़े।
बिन भय अनभौ होइ बणा हंबै।

इसी प्रकार परिशिष्ट पद ४२ में विषम और सम चरणों के बीच 'मन बौरा रे जोड़' दिया गया है—

मर्कट मुष्टी अनाज की मन बोरार रे लीनी हाथ पसार। पदों में प्रयुक्त इन दोहों का रूप प्रायः ठीक है। केवल ग्रं० के पद २५७ के दोहे बहुत अस्त-व्यस्त हैं। दोहे का मिश्रण अन्य छन्दों के साथ हुआ है; जिसकी कुछ चर्चा पीछे हो चुकी है, कुछ आगे होगी।

(३६) दोहकीय (१३-१३-१३-१३)

दरसन संमि का कीजिये, जो गुन नहीं होत समांन।
सींधव नीर कबीर मिल्यौं, है फटक न मिलै पखान।
--क० ग्रं० पद, २८

दोहे के सम चरण के आदि में दो मात्राओं के योग से दोहकीय का निर्माण होता है।[1] सूरदास की तरह दोहकीय का स्वतंत्र प्रयोग कबीर-साहित्य में नहीं मिलता। दोहे के साथ दोहेकीय की पंक्तियाँ मिल जाती हैं, जो कवि प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट के परिणाम-स्वरूप टपक पड़ी है। ग्रं० में ४ (५, २८, ३०, ७५) और परिशिष्ट में एक (१४७) पद ऐसे हैं, जिनमें दोहे के साथ दोहकीय का मिश्रण पाया जाता है।

(३७) दोही (१५-११, १५-११)

का जटा भसम लेपन कियें, कहा गुफा में बास।
—क० ग्रं०, पद, ३००

दोहे के विषम चरण के आदि में दो मात्रायें जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है भानु इसे दोह कहते हैं।[2] कवि-दर्पण-कार ने इसे संदोहक कहा है।[3] कबीर-साहित्य में दोही का स्वतंत्र प्रयोग नहीं हुआ है। इसकी कतिपय पंक्तियाँ दोहे के चरणों के बीच ग्रं० के पद ३०० और ३०२ में मिल जाती हैं।

(३८) सोरठा (११-१३, ११-१३)

मन जांणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की फुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै।
— क० ग्र०, मन को अंग, पद्य ७ पृ० २८

इसके अतिरिक्त और दो सोरठे (कामीं नर कौ अंग, पद्य ८ पृ० ३९; साधै को अंग, पद्य १०, पृ० ५०) कबीर साहित्य में प्राप्त होते हैं।

(३९) छप्पय (रोला + उल्लाला)

मन नहीं छाड़ै विषै, विषै न छाड़ै मन कौं।
इनको इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं।
खंडित मूल विनास, कहौ किंम विगतह कीजै।
ज्यूं जल में प्रतिव्यंब, त्यूं सकल रांमहि जाणीजै।
सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभुवन-पति कहूं-कस।
कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पूरया सकल रस।
—क० ग्रं०, विचार कौ अंग, पद्य ९, पृ०५६

इसके अतिरिक्त एक और छप्पय (बेसास को अंग, पद्य० १, पृष्ठ ५७) कबीर-साहित्य में उपलब्ध होता है।

(४०) रोला + दोहा—

काहे रहो अचेत कहा यह अवसर पैहो।
फिर नहिं मानुख जनम बहुरि पीछे पछतै हो।
लख चौरासी जीव [जन्तु] में मानुष परम अनूप।
सो तन पाय न चेतहू कहा रंक का भूप।
- क० व०, पद १५७

इस तरह का रोला-दोहा का प्रागाथिक रूप केवल उक्त पद में मिलता है। रोला-दोहा का ऐसा मिश्रित प्रयोग सूरदास ने भी किया है। अवश्य उसमें अनुच्छेद के बाद एक दस मात्रा की टेक दी गई है, जो यहाँ नहीं है। यदि यह पद कबीर का हो, तो रोला-दोहा के मिश्रित प्रयोग की परिपाटी चलाने का श्रेय कबीर को ही दिया जाएगा। इस परंपरा को सूरदास ने दस मात्रा की टेक देकर आगे बढ़ाया और उनके बाद तो नन्ददास ने सूरदास के ढांचे पर ही अपने 'भँवर गीत' की रचना की। फिर तो यह परंपरा सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमर दूत' और लोचन प्रसाद पांडेय के 'आत्मत्याग'[1] के द्वारा आधुनिक काल तक चलती चली आई।

छन्दोनिरूपण के बाद अब कबीर के छन्दःप्रयोग पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिये। छन्द-प्रयोग की मुख्यत: तीन विशेषतायें हैं—

(१) द्रष्टव्य—आ० हि० काव्य में छन्दयोजना: डा० शुक्ल, पृ० ३१७

(२) देखिये— छन्द : प्रभाकर : भानु, पृ० ९०

(३) देखिये - कविदर्पण २।१६-२

(१) देखिये—कविता-कौमुदी, दूसरा भाग : सं० रामनरेश त्रिपाठी पृ० ४५८।

(क) कवि का भावानुकूल छन्द का प्रयोग।

(ख) कवि का भावाभिव्यक्ति के लिये नूतन छन्द का निर्माण।

(ग) कवि का विशेष छन्द या छन्दों के प्रति रुझान।

छन्द को दृष्टि में रखकर तो कबीर ने किसी पद्य की रचना की नहीं होगी। अपनी मस्ती में आकर उन्होंने जो कुछ खंजड़ी पर गा दिया होगा, वही छन्द के साँचे में ढल गया होगा। कबीर के लिये भावाभिव्यक्ति ही मुख्य थी। इसीलिये उनका भाव कहीं एक ही छन्द में निबद्ध हो गया, और कहीं एक छन्द में बहता हुआ अन्य छन्द में भी फैल गया। यदि दोहा कहते हुए कहीं दोही-दोहकीय की पंक्ति आ गई, तो कहीं दोहे की पंक्तियों के बीच सरसी का चरण आकर बैठ गया। अतः कहा जा सकता है कि अन्य पद-रचयिताओं की तरह उनके पदों में जो दो-तीन छन्दों का मिश्रण है; वह भावानुकूलता के लिये तो है ही, उसमें प्रयत्न-शैथिल्य तथा रचना- सौविध्य का भी बड़ा हाथ है। अपने भावों को ठोंकपीट कर छन्द के चौखटे में बैठाने का प्रयास कबीर ने नहीं किया। फिर भी कहीं-कहीं उनके छन्द प्रयोग में काफी सतर्कता दिखलाई पड़ती है। उदाहरण-रूप में उनके वे पद लिये जा सकते हैं; जिनमें महानुभाव-चौपाई, महानुभाव-सखी, चौपाई-हंसगति तथा रोला-दोहा के चरणों का क्रमबद्ध मिश्रण हुआ है। इन मिश्रित छन्दों के क्रमायोजना के पीछे कवि का संचेतन प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित होता है। छन्दों के इस क्रमबद्ध मिश्रण के अतिरिक्त दोहे में निबद्ध कुछ पदों में थोड़ी नवीनता लाने का प्रयास भी दिखलाई पड़ता है; जिसकी चर्चा ऊपर दोहा छन्द के प्रसंग में हो चुकी है। यदि ऐसे पद कबीर के ही हों, तो दोहे को इस नवीन रूप में उपस्थित करने का श्रेय उन्हें ही दिया जायगा। पीछे सूरदास ने तो दोहे के विषम और सम चरणों के अंत में क्रमशः ६ और ९, १० और १३, १० और २० मात्राओं की पंक्तियाँ जोड़ कर इस प्रवृत्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।[१]

(१) देखिये—सूरसागर : ना० प्र० स० काशी (द्वि० संस्करण) पद ३४८४, ३५१७, ३४८५

कबीर ने जान बूझकर किसी नूतन छन्द का आविष्कार किया होगा, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। अपनी मौज में उन्होंने जो गाया, उसी में दो-एक नूतन छन्द बन गये। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' वाले पद में 'चादर' की जगह 'चदरिया' कह देने से एक नया छन्द वदनसवैया बन गया। छाया वाद-युग में अत्यंत प्रचलित मत्त सवैया भी इस प्रकार का एक छन्द है, जिसका दर्शन सर्वप्रथम कबीर की रचना में ही होता है। विजात तथा राधिका छन्द भी कबीर के पूर्व नहीं मिलते। कबीर के बाद भी संभवतः इन तीनों छन्दों का प्रयोग भारतेन्दु के पूर्व किसी ने नहीं किया। नहीं कहा जा सकता कि इन छन्दों में निबद्ध पद कबीर के हैं, या उनके अनुयायियों ने इन्हें लिखकर उनकी रचनाओं में घुसेड़ दिया है।

कबीर के साहित्य का एक बड़ा भाग दोहे में लिखा गया है। ज्ञानोपदेश देने के लिये यह छोटा छन्द अपभ्रंश काल से ही संतों का प्यारा रहा है। कड़वक-बद्ध रचना रमैणी में भी कबीर ने घत्ता देने के लिये दोहे का प्रयोग किया है। अतः दोहा उनका प्यारा छन्द माना जा सकता है। पदों में सार की संख्या सबसे अधिक है। रचना-सौदर्य एवं सांगीतिक सौविध्य के कारण सार पद-रचयिताओं का सदा प्रिय छन्द रहा है। सार के बाद चौपाई का स्थान आता है। विद्यापति के विपरीत कबीर दास ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्दों के प्रयोग की ओर अपनी रुचि दिखलाई है। जहाँ विद्यापति ने केवल एक पद में झूलना का प्रयोग किया है, वहाँ कबीर ने झूलना-हंसाल में १३ पद लिखे हैं। विद्यापति और सूरदास द्वारा प्रयुक्त सरसी की संख्या को देखते हुए यह अवश्य कहा जाएगा कि कबीर ने सरसी को विशेष महत्त्व नहीं दिया। सप्तक के आधार पर चलने वाले रूपमाला, गीतिका और हरिगीतिका छन्द भी कबीर-साहित्य में मिलते हैं। कबीर ने ।SSS सप्तक पर आधारित विजात का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार उनके साहित्य में त्रिकल, चतुष्कल, पंचकल षट्कल, सप्तकल तथा अष्टकल के आधार पर चलने वाले सभी छन्द मिल जाते हैं।

कबीर ने जो कुछ कहा, वह मात्रिक छन्दों में ही निबद्ध

है। किसी वर्णिक छन्द का प्रयोग उनके साहित्य में नहीं मिलता। सूरदास ने गणात्मक वर्णिक छन्द का प्रयोग नहीं किया। गणात्मक सवैया भी सूर-साहित्य में नहीं मिलता। पर मुक्तक वर्णिक—घनाक्षरी आदि का प्रयोग उनके अनेक पदों में पाया जाता है तुलसी के पदेतर और पद दोनों प्रकार के साहित्य में घनाक्षरी आदि काफी प्रयोग हुआ है। अतः 'इसका (कवित्त का) मूल पद साहित्य में खोजा जा सकता है' डा० जगदीश गुप्त का यह कथन सर्वथा संगत है। पर 'सूर, तुलसी, विद्यापति' छीतस्वामी आदि भक्तकवियों के अनेक पद मिलते हैं, जिनका विन्यास चरण-संख्या को छोड़कर ठीक घनाक्षरी जैसा है'[1] ऐसा उद्घोष करना निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस प्रकार कबीर-साहित्य में एक भी कवित्त प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार विद्यापति में भी घनाक्षरी अथवा उससे मिलता-जुलता कोई छन्द उपलब्ध नहीं।

(१) रीतिकाव्य सं० डा० जगदीश गुप्त, पृ० १२३

डॉ० जगमोहन चौपड़ा
पत्राचार निदेशालय,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़

'आलोचक का पूर्वाग्रह और नायक-विहीन उपन्यास'

—आधुनिक हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में

एक लम्बे अर्से से यह कहा जा रहा है कि आज का हिन्दी उपन्यास अपने नए प्रयोगों के बावजूद अराजकता की स्थिति में है। इसका एक कारण सृजन (कृति) के प्रति कथाकार की अवहेलना हो सकती है और दूसरा सृजन के प्रति आलोचक की निजी धारण जिसने प्रायः कृति को अपने संसार में लेजाकर व्याख्यायित किया है, अर्थात् कृति को स्वयं न बोलने देकर उसे अपने ढंग से बुलवाया है। कथाकार की अवहेलना ने कथा-नायक को अपने बिम्ब में पूरी तरह उभरने नहीं दिया और आलोचक की निजी दृष्टि ने कथा-नायक की प्रवृत्तियों में से उसकी प्रकृति को निकाल कर अपनी धारणाओं को उसके स्वरूप पर आरोपित किया है। नायक विहीन उपन्यासों की परिकल्पना का अस्वीकार इस बात का साक्षी है।

भारत में वैदिक युग का नायक परम था, मध्य-युग में वह परम द्वारा निःसृत महामानव के रूप में आया और उनींसवीं शताब्दी में वह मध्यवर्ग द्वारा निर्मित जन-साधारण के रूप में आया। आज उसका रूप निश्चित रूप में पहले वाले रूप से भिन्न है। आज वह अपनी परम्परागत लीक को छोड़कर एक बिल्कुल नए और अनजाने रूप में हमारे सामने आ रहा है। यही नहीं लघुमानव की संज्ञा से जुड़ा हुआ निम्न अथवा मध्यवर्गीय यह व्यक्ति जिसने अभिजात्य नायक से उसका पद छीना था आज स्वयं भी उसी नायकत्व की भूमिका से बहिष्कृत हो रहा है। मध्यवर्गीय नायक अपनी क्लीवता, निष्क्रियता, अपने आधे-अधूरेपन के कारण परम्परा के आदर्शवादी स्वरूप से निःसृत अपनी अवधारण को खण्डित कर चुका है।

सुनीता (१९३४); चित्रलेखा (१९३४); और गोदान (१९३६) से लेकर 'एक चूहे की मौत' (१९७१) तक की उपन्यास रचना इस बात का प्रमाण है कि (कुछेक प्रयोगों को छोड़कर) हिन्दी उपन्यास में 'नायक' की स्थिति को एक आवश्यक भूमिका की 'स्थिति' के रूप में स्वीकारा गया है। परन्तु इसके स्वरूप और इसकी अवधारणा में अन्तर को स्पष्ट और सही रूप में आँकने में आलोचक का आज भी आग्रह बना हुआ है।

आज का उपन्यासकार जीवन के अधिकाधिक निकट आने की प्रक्रिया में अथवा आदमी की तलाश में उसके परिवेश को छीलता और चीरता हुआ निकल गया है। आदमी की खोज उसकी पहली और अंतिम खोज रही है। इस खोज के कारण उसे अपने जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों की साक्षी में ही अधिकांश लेखन रचना पड़ा है। परिणामस्वरूप इस लेखन का एक बड़ा भाग आत्म-अभिव्यक्ति बन कर रह गया है। फिर भी कुछ ऐसा लेखन बचा रह गया है जो सृजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अधिकाँश उपन्यासों की रचना के स्तर 'कृति' की अपेक्षाओं तक न उतर पाते हुए भी कृति की सम्भावनाओं की ओर इंगित अवश्य करते हैं।

आज हिन्दी उपन्यास में नायक[1] को प्रश्रय देने वाली इसी प्रवृत्ति के समानान्तर, समकक्ष एक अन्य नयी प्रवृत्ति पनप रही है जिसे नायक-विहीन उपन्यासों की प्रवृत्ति से

१. जो पहले वाले (परम्परागत) नायक से पूर्णतया भिन्न है।

अभिहित किया जा सकता है। यह परम्परागत नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृत्ति के कुछ अनजाने ध्रुवों से खण्डित होकर जहाँ पहले वाली प्रवृत्ति से अलग होती है वहीं परम्परागत सजीव-नायक का स्थान शहर, गाँव, अंचल, समस्या, समय आदि मूर्त्त-अमूर्त्त आकार ग्रहण कर लेते हैं।[1] ये मूर्त्त-अमूर्त्त आकार ही उपन्यास का केन्द्र बन जाते हैं।

इस प्रकार मध्यवर्गीय नायक के ह्रास के साथ शहर, गाँव इत्यादि के मूर्त्त-अमूर्त्त आकारों का उपन्यास में केन्द्रीय स्थान ले लेना परम्परागत 'नायक' का निश्चित रूप में विलुप्तीकरण माना जा सकता है। अतः नायक के ह्रास की यह स्थिति परम्परागत नायक की अवधारणा से मेल नहीं खाती, जहाँ नायक को एक चौखटे में बद्ध रखा जाता था।[2] या यूँ भी कहा जा सकता है कि हर युग में हर देश में नायक का रूप उस युग की आवश्यकतानुसार बदलता रहा है इसलिए आज के युग में धीरोदात्त आदि नायकों के प्रकारों को उसी रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती जिस रूप में संस्कृत नाट्याचार्यों ने उन्हें स्वीकारकिया था। अतः आज के तथाकथित नायक को धीरोदात्त आदि नायक के 'केनवैस' में फिट करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव और भ्रामक भी होगा।

वस्तुतः आज के संकुल जीवन में नायक की भूमिका के अर्थ परम्परागत न होकर नए अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। इस प्रकार आज इस भिन्न स्थिति में निर्जीव वस्तुओं में भी नायक की बराबर तलाश मात्र आलोचक का पूर्वाग्रह ही बन कर रह गयी है। नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना की प्रवृत्ति को वह इसलिए महत्त्व नहीं देता क्योंकि यह प्रवृत्ति आंशिक है, क्योंकि इस प्रवृत्ति के उपन्यास अंगुलियों पर गिनाये जा सकते हैं। आलोचक यहाँ भूल जाता है कि यदि कोई आंशिक वस्तु है तो उसका अस्तित्व भी है। लेकिन यह आलोचक का पूर्वाग्रह ही है वह आँख मूँदे हुए उस वस्तु के सम्पूर्ण अस्तित्व को अस्वीकार किये हुए है। नायक विहीनता के अस्वीकार की इस प्रकार की घोषणायें और नायक की एक अन्तहीन तलाश अपने आप में भ्रामक और बेमानी है। वस्तुतः इसका दोष हमारा या हमारे आलोचक का भी इतना नहीं जितना हमारी शताब्दियों पुरानी परम्परा के प्रभाव का है। हम लोग अपनी परम्परा से इस कदर जुड़े हुए हैं, वह इस कदर हमारी नसों में रस गयी है कि वस्तु स्थिति का स्वीकार हम करना चाहते हुए भी नहीं कर सकते या कर पाते। मसलन 'नायक' शब्द इतना समय बीत जाने के पश्चात् भी हमें उसी तरह से 'हाँट' कर रहा है जिस प्रकार वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में किया करता था। शताब्दियाँ बीत जाने के पश्चात् भी हमारे साहित्य में उसका एकाधिकार आज भी उतना ही है। आज भी हम उसकी घुट्टी उसी परम्परागत लीक पर पीते आ रहे हैं। यह एकाधिकार की संकीर्णता का ही परिणाम है कि आज जब नायक-विहीन उपन्यासों की परम्परा का अस्तित्व हमारे सामने है, आज जब नायक अपनी पूर्व अवधारणा से हटकर विघटित रूप में गाँव, अंचल, शहर, समस्या, समय, और समाज आदि मूर्त्त-अमूर्त्त आकारों में आ रहा है जिसमें न तो पहले जैसा कोई नायक है और न ही कोई व्यक्ति इतने सशक्त रूप में उभरकर सामने आया है फिर भी हम अपने पूर्वाग्रह के

---

१. बहती गंगा (१९५२) : शवप्रसाद मिश्र 'रूद्र'; मैला आंचल (१९५४); फणेश्वर नाथ रेणु; सागर, लहरें और मनुष्य (१९५६): उदयशंकर भट्ट; परती : परिकथा (१९५७)फणेश्वर नाथ रेणु; झूठा : सच (१९५८) : यशपाल; अंधेरे बन्द कमरे (१९६१): मोहन राकेश; अपने-अपने अजनबी (१९६३) : अज्ञेय; कालेज स्ट्रीट के नए मसीहा (१९६६) : शरद देवड़ा; अलग-अलग वैतरणी (१९६७): शिवप्रसाद सिंह; राग दरबारी (१९६८) : श्रीलाल शुक्ल; जल टूटता हुआ (१९६९) : रामदरश मिश्र ; सबहिं नचावत राम गोसाई (१९७०) : भगवती-चरण वर्मा; ओस की बूंद (१९७०) : राही-मासूम रज़ा; कहीं कुछ और (१९७१) : डा० गंगाप्रसाद विमल; एक चूहे की मौत (१९७१) : बदी उज्ज़मा, इत्यादि।

२. धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त, और धीरोद्धत आदि कुछ भेदों उपभेदों को छोड़कर इसके बाहर नायक की परिकल्पना हो ही नहीं सकती थी। हिन्दी साहित्य कोश-भाग १ प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ४३०।

कारण उसमें नायक तलाशते हैं और नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना को बेमानी माने हुए हैं। आलोचक के इस पूर्वाग्रह का शिकार आज का शोधकर्त्ता भी है।[1] आलोचक के इस पूर्वाग्रह से समझौते करने की यह प्रवृत्ति जहाँ शोधकर्त्ता के पाँव तले की जमीन छीनती है वहाँ सही शोधकार्य में निश्चित रूप में एक दीवार का काम भी करती है। यह ठीक है कि इस प्रकार के उपन्यासों में व्यक्ति के स्थान पर शहर, गाँव, समाज, समस्या आदि मूर्त्त-अमूर्त्त आकार उभर कर सामने आते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम इन्हें पहले जैसा नायक मान सकते हैं? यदि इन्सान से हटकर नायक का विघटन इन अमूर्त्त आकारों में हुआ है, तो भी वह पहले वाले नायक की संज्ञा से अभिहित नहीं किये जा सकते। गाँव, शहर, समाज, समस्या अथवा समय आदि को यदि नायक की संज्ञा देनी है तो इसे कुछ दूसरे ही अर्थ देने होंगें। 'नायक' जैसे शब्द को बदलना होगा और उसे सही अभिव्यक्ति देनी होगी। परन्तु आज का आलोचक अपने पूर्वाग्रह के कारण वस्तु-स्थिति को नकारते हुए बराबर नायक की तलाश में लगता है। नायक की तलाश से जुड़ा हुआ आलोचक का यह आग्रह आलोचना का बाँझपन सिद्ध करने के सिवाय कुछ नहीं। यह अपने युग की बौद्धिक मांग तो ठुकराता ही है परन्तु साथ ही अपने सम-सामायिक पहलुओं से पलायन भी करता है। आलोचना की संकुलता एक जड़ता को जन्म देती है और जड़ता बाँझपन की सड़ाँध पैदा करती है।

आज का हिन्दी उपन्यास मनःस्थितियों, समस्याओं, परिवेश की समग्रता अथवा वैश्विक स्थितियों में व्यक्ति, समूह, पीढ़ियों के द्वेष, वर्तमान वैज्ञानिक संकट, मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता इत्यादि के विलक्षण प्रश्न खोजता है, जहाँ 'मोराल' नाम की कोई चीज नहीं रह गयी वहाँ हम केवल किसी एक पात्र, किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र पर अंगुली रखकर उसे नायक की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते। यही नहीं आधुनिक मनोविश्लेषण के आगे मनुष्य अवचेतन की प्रेरिकाओं द्वारा संचालित एक माध्यम मात्र है—दमित इच्छाओं का शिकार, यौनग्रस्त, शक्ति-लोलुप, हीन भाव से पीड़ित, कुण्ठाओं और ग्रंथियों में जकड़ा हुआ। इस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषण इस बात का गवाह है कि आदमी अपने भद्देपन, बौनेपन और घिनौनेपन के कारण नायक बनने की परम्परागत योग्यता खो चुका है। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति मनोविश्लेषण के सामने नायक (हीरो) नहीं रह सकता—वह केवल पात्रों की सामान्य भीड़ में पात्र ही हो सकता है कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं।[1] देवेन्द्र इस्सर ने इसे व्यक्तित्वहीन भीड़ का प्रतिरूप कहा है।[2] इस स्थिति में नायक का स्वरूप खोज पाना सहज नहीं है, क्योंकि 'नायक' शब्द का अर्थगत आग्रह संकट पैदा करता है। यह बहुत निश्चित है कि नायक शब्द का पारम्परिक अर्थ अब विसंगत हो गया है। इसमें अर्थ का अथवा स्वयं इस शब्द का रूपान्तरण जरूरी हो गया है। प्रायः इसी स्थिति में कथा-केन्द्र अथवा केन्द्रीय-विषय 'नायक' का स्थान ले सकता है, परन्तु वह समस्या को और अधिक जटिल एवं विवादास्पद बना सकता है क्योंकि आज का हिन्दी उपन्यास कथा नहीं कहता, मनोभावों एवं मनःस्थितियों की व्याख्या करता है। अतः 'नायक' शब्द के प्रयोग में उन नए अर्थों को तलाशना होगा जो इस संकटकालीन अथवा विवादास्पद समस्या का समाधान कर सकें। जहाँ तक नायक-विहीन उपन्यासों का प्रश्न है उनमें नायक की तलाश केन्द्रीय-विषय, केन्दीय पात्र अथवा कथा-केन्द्र की हो सकती है। इस प्रकार के नए अर्थों में परम्परागत 'नायक' शब्द के स्थान पर उन्हें केन्दीय-पात्र अथवा केन्द्रीय-विषय जैसे 'शब्दों' से अभिहित करना अधिक स्वाभाविक और समीचीन होगा। नायक के स्वरूप की खोज के इस विवादास्पद कोण पर पहुँचकर नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना इसलिए भी सार्थक

---

१. डा० अतुलवीर अरोड़ा ने परिशोध के पिछले अंक (१७) में 'आधुनिकता के आईने में हिन्दी उपन्यास का चेहरा' नामक शोध-निबन्ध में नायक-विहीन उपन्यासों के अस्तित्व को मानते हुए भी आलोचक के पूर्वाग्रह के कारण उसे असंगत करार दिया है। अस्तु यह शोध-निबन्ध अपनी विषयगत विशेषताओं के होते हुए भी अधूरा है।

---

१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन—डा० गणेशन, पृ० १३५।

२. कल्पना–अंक न० १२, दिम्सबर १९७०।

लगने लगती है कि मानव-मूल्यों के विघटन की एक बहुत स्पष्ट भूमिका समूची वैश्विक-सृष्टि में आरम्भ हो चुकी है। मानव गौरव की प्रतिष्ठा को क्रमशः घटाने वाले ऐसे तत्त्व हैं जिन्होंने विघटन की पूर्व-पीठिका के रूप में महत्त्वपूर्ण काम किया है। परिणामतः सिद्धान्तों के स्तर पर मनुष्य की सार्वभौमिक सत्ता स्थापित हो जाने पर भी भौतिक स्तर पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएँ पनपती रहीं जिन्होंने कालान्तर में ऐसी चिन्तन धाराओं को प्रेरित किया जो मनुष्य की सार्थकता और मूल्यवत्ता में अविश्वास करने लगीं। बहुधा ऐसी विचारधाराएँ नाम के लिए मानवतावाद के साथ विशिष्ट विशेषण जोड़कर उसका प्रश्रय लेती रहीं, किंतु मूलतः वे मानव का अवमूल्यन करती गयीं। अवमूल्यन की यह स्थिति आज के परिवेश में पहले से अधिक सशक्त रूप में उभर कर सामने आयी है। आज जब हमारा जीवन प्रतिदिन विश्व की ओर अपने देश की आन्तरिक हलचलों से प्रभावित हो रहा है; आज जब हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं तो मोहन राकेश के शब्दों का आश्रय लेकर कहा जा सकता है कि इस उत्कम्प में मिले हुए हैं कुछ संकुल स्वार्थ, कुछ ईर्ष्या-द्वेष, कुछ नन्हीं-नन्हीं चोंचों की सी महत्त्व-काक्षाएँ, कुछ थैली पर बैठे सांपों जैसे अहं और इन सबके प्रति असन्तोष, विद्रोह और इन सब को उखाड़ फैंकने की प्रवृत्ति। इसके साथ ही राजनैतिक हलचलें जीवन पर इस कदर हावी हो रही हैं कि जीवन का हर पहलू रूखा और फीका पड़ता जा रहा है। कुछ बड़े-बड़े केन्द्रों की बात छोड़ दें तो अन्यत्र हमारा सांस्कृतिक जीवन बहुत कुछ मिटता-सा रह गया है। पुरानी परम्पराएँ छूटती जा रही हैं और नई परम्पराएँ विकसित नहीं हो पा रही हैं। इकाईयों में उबलती हुई चेतना है, पर उस चेतना के सामूहिक उफान के अवसर नहीं आ पाते। आज वर्तमान की (यही संकुल) पृष्ठभूमि हमें प्राप्त है। इस पृष्ठ-भूमि के आगे, तेजी से बनते इतिहास की साक्षी में, हम जो कुछ देख रहे हैं, कुछ अनुभव कर रहे हैं, जैसा जीना चाहते हैं और जैसे जी रहे हैं, इस सबका चित्रण जहाँ कहीं भी उपन्यास में उपलब्ध होता है, वह जीवन के निकट एक प्रामाणिक तलाश है, जिसे नायक-विहीन उपन्यास में आकलित किया गया है।[1]

बीसवीं शताब्दी में उपन्यास जब नयी-परम्पराओं, नयी मान्यताओं को लेकर चलता है अथवा किसी भी तरह की परम्परा या मान्यता को केन्द्र में लेकर नहीं भी चलता तो कहीं-न-कहीं इसकी भूमिका उपन्यास की नयी खोज से जुड़ी होती है। परिवेश से बुरी तरह छीला गया पात्र बिल्कुल अनजाने लेकिन गहरे क्षितिजों को उभारता है। उदात्त मानव के बाद लघु-मानव (साधारण मानव) की स्थापना, सम्भवतः इसीलिए की गयी है। बहुत निश्चित है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की उपज को हम जी रहे हैं, वह हमारे लघु मानव को अमानवीय स्थितियों की

---

१. पीछे संकेत न० (२) में गिनाये गए उपन्यासों के अतिरिक्त हैं:—एक इंच मुस्कान (१९६२) : राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी; पचपन खम्भे लाल दीवारें (१९६३): उषा प्रियम्वदा; अस्तंगता (१९६६) : कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खू'। इन उपन्यासों के अतिरिक्त भी अन्य बहुत से उपन्यासों में इस प्रामाणिक तलाश को देखा जा सकता है। यह उपन्यास या तो पूर्णतया नायक-विहीन उपन्यासों की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं अथवा उनका झुकाव इस प्रवृत्ति के उपन्यासों की ओर है। इस प्रकार के उपन्यासों में शरद् देवड़ा का टूटती 'इकाईयाँ'; राही मासूम रजा का 'आधा-गाँव,' तथा 'टोपी शुक्ला'; रमेश बक्षी का 'चलता हुआ लावा'; यशपाल का 'बारह घण्टे'; 'रेणु' का 'दीर्घतपा'; उषा प्रियम्वदा का 'रूकोगी नहीं राधिका'; नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' आदि उपन्यासों को गिनाया जा सकता है। (हमने यहाँ परम्परागत अवधारणा के अनुसार 'नायक' से 'पुरुष पात्र' का ही अर्थ लिया है। कुछ उपन्यासों में जहाँ स्त्री पात्रों ने पुरुष पात्रों के अभाव में या उनसे सशक्त होते हुए आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार नायक का स्थान लेने का प्रयत्न किया है वहाँ वह केवल परम्परागत अवधारणा के अनुसार मात्र नायिकाएँ ही रह गयीं हैं। अतः ऐसे उपन्यास जिनमें पुरुष पात्रों का अभाव है वह नायक-विहीन उपन्यासों की कड़ी के अन्तर्गत रखे गए हैं।)

ओर ले जाए। पश्चिमी उपन्यासकारों ने मानव के इस स्वरूप पर अपना अध्ययन शुरू कर दिया है। हमारे यहाँ मध्यवर्ग और निम्नमध्य वर्ग में से उभरता हुआ पात्र नायकत्व की इसी प्रवृत्ति और प्रकृति का शिकार जाने बूझे और अनजाने हो रहा है।[1]

वस्तुतः आज का हिन्दी उपन्यास भी मानव-मूल्य की इस विघटन प्रक्रिया का साक्षी है। यद्यपि आस्था के नए स्वर इसमें उपलब्ध होते हैं, तथापि वे जीवन को कोई सुस्पष्ट आकार नहीं दे पाते। नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृत्ति इसका प्रमाण हो सकती है, जहाँ औपन्यासिक नायक इस सीमा तक निष्क्रिय, कमजोर, क्लीव और नपुंसक हो चुका है कि हम उपन्यासों के ढेर सारे पात्रों में किसी एक पर अंगुली रख कर उसे नायक के नाम से अभिहित नहीं कर सकते। यहाँ तक कि परम्परागत नायक अपने गौरव से पदच्युत होकर स्वयं 'नायक' शब्द को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कोई उपयुक्त एवं संगत अर्थ नहीं दे पाता। ऐसी स्थिति में नायक की परिकल्पना भ्रामक लगने लगती है क्योंकि उसके रूढ़ अर्थ उपन्यास की प्रकृति के समकक्ष उपयुक्त नहीं बैठते और एक पुराने शब्द को नए अर्थ देने में एक भीतरी विसंगति का आभास भी मिलने लगता है।

१. इसमें समाज-सुधार, राष्ट्रीय आन्दोलन, औद्योगीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा, विज्ञान, सन् ४७ का बंटवारा, सांस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आर्थिक नीति, उत्पादन, उपभोग, जनसंख्या, अकाल, बेरोज़गारी, भीड़, शहरीकरण, पूंजीवाद, व्यक्ति और समाज, परिवार और व्यक्ति, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, टैन्शन्ज़, मादक पदार्थों का प्रयोग, असन्तोष, और भारत-चीन व भारत-पाक युद्ध आदि बातें अथवा तत्त्व काम करते रहे हैं।

— ० —

हरदेवसिंह सिद्धू
२१०६ सेक्टर १५-डी,
चंडीगढ़

श्री गुरु अर्जुनदेव—कवि रूप

सिक्खों के पंचम गुरु, गुरु अर्जुनदेव जी ने साहित्य रचना बहुत छोटी अवस्था में ही आरम्भ कर दी थी। यह कार्य वे आजीवन अपने अनुभवों एवं देखी हुई घटनाओं के आधार पर करते रहे। उल्लेखनीय है कि 'आदि ग्रंथ' में सबसे अधिक रचना गुरु अर्जुनदेव जी की (२३१२ पद[१]) है। इन्होंने फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त लम्बी कविताओं की रचना भी की है। 'सुखमनी साहिब', 'बावन अखरी', 'जैतसरी की वार', 'फुनहे', 'डखणे', आदि कविताएं विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

गुरु अर्जुनदेव जी जितने बड़े संत थे, उतने ही बड़े कवि और कलाकार भी थे। इनकी वाणी में इनकी अद्वितीय प्रतिमा, दैवी अनुभव, विचारों की सूक्ष्मता, संगीतज्ञान तथा सीधा-सादा मर्म-स्पर्शी वर्णन यत्रतत्र बिखरा पड़ा है। इनकी कविता आध्यात्मिक अनुभव की कविता है, रहस्यवाद की रचना है। इन्होंने अपने अनुभव तथा कल्पना के बल पर सरल से सरल भाषा तथा माधुर्यपूर्ण शैली में इसे मूर्तिमान किया है। इनकी भाषा पर कबीर, फरीद, गुरु नानक, जयदेव, नामदेव और रविदास आदि संतो की भाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इसी कारण इनकी कविता की संत भाषा पंजाबी लगभग सारे भारत में अच्छी तरह समझी जाती है।

इनकी कविता में जो प्यार तीव्रता, प्रिय-मिलन की तीव्र लालसा, विरह की पीड़ा, दर्द, विचार सौन्दर्य की अकथनीय सूक्ष्मता, भाषा की रोचकता एवं प्रभु से तादात्मय के गुण हैं, इन्हें संसार के अन्य रहस्यवादी कवियों—हाफिज, रूमी, जामी, बाबा फरीद, कबीर, गुरुनानक, शाह हुसैन बुल्लेशाह, ब्लेक, शैले, गेटे व गालिब आदि के बराबर खड़ा कर देते हैं।[१]

गुरु अर्जुनदेव जी की कविता का मुख्य आधार पूर्व गुरुओं के मूल मंत्र को अपनाना है। संक्षेप में इसे 'गुरुमति' का आधार कह सकते हैं। यह इन्हें गुरु नानकदेव जी, गुरु अंगददेव जी, गुरु अमरदास जी और गुरु रामदास जी से तथा अन्य संत भक्तों की संगति के माध्यम से आध्यात्मिक विरासत के रूप में मिला। इनके रहस्यवादी वर्णन में न तो वेदान्त जैसी शून्यता है और न ही सूफी मत जैसी तेजी व गर्मी।[२] गुरु जी कहते हैं कि प्रभु सर्व-शक्तिमान है, सारी सृष्टि उसी का ही अंश है और वह सब सांसारिक आंखों में से स्वयं देखता है। अतः वह निर्गुण व सगुण दोनों रूपा है। जैसा कि उन्होंने 'सुखमनी साहिब' की इक्कीसवीं अष्टपदी में लिखा है :—

---

१. जीत सिंह 'सीतल' डायरेक्टर भाषा विभाग पंजाब (कुछ लोगों ने दृष्टि भेद के कारण इन्हीं पदों को २२१८ और अन्य ने २३८६ गिना है)

(प्राक्कथन गुरु अर्जुनदेव की वाणी)

---

१. नि. 'गुरु अर्जुन जी दी कविता'—प्रो० दीवान सिंह

(क्लासीकल अध्ययन सीरीज़—गुरु अर्जुन) पृ० ९७-९८

२. भूमिका—गुरु अर्जुनदेव की वाणी—प्यारा सिंह पद्म, पृ० १३

जन आकारू इहु कछु न हसटेता ।
पाप पुंन तब कहते होता ।

जब धारी आपन सुंन समाधि ।
तब बैर बिरोध किस संग कमाति ।

जब इसका बरनु चिहनु न जापत ।
तब हरख सोग कहु किसहि बिआपति ।

जब आपन आप आपि पारब्रह्म ।
तब मोह कहा किसु होवत भरम ।

आपन खेलु आपि वर तीजा ।
नानक करने हार न दूजा ।।

प्रेम वर्णन से इनके काव्य में एक ऐसे सौन्दर्य तथा माधुर्य का समावेश होता है, जिससे कविता-कामिनी अपने आप सुसज्जित हो उठती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुरु अर्जुनदेव जी ने लोक-जीवन से अच्छे-अच्छे दृष्टांत लेकर व दाम्पत्य प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन द्वारा प्रभु के प्रेम का गायन किया है। उनकी कविता में से ईश्वर प्रेम की विह्वलता एवं व्याकुलता छलकती हुई सी प्रतीत होती है। एक उदाहरण देखिये :—

किउ विसरे इहु लाल पिआरो,
सरब गुण सुखदाइओ ।
मंदरि चरि कै पंथ निहारउ,
नैन नीर भर आइओ ।।[1]

एक अन्य उदाहरण देखिये जिसमें प्रिय मिलन की लालसा का कितना चमत्कारमयी वर्णन किया है :—

वध सुख रैनड़िये प्रिय प्रेम लगा ।
घट दु:ख नींदड़िये परसउ सदा पगा ।
पग धूरि बाँछउ सदा जाचउ नाम रस वैरागिनी ।
प्रिय रंगि राती सहज माती महा दुरमति तिआगिनी ।[2]

गुरु जी संगीत प्रेमी होने के साथ साथ संगीत विद्या में निष्णात भी थे ।[1] जब उनके दरबारी गायक सत्ता और राय बलवैंड रुष्ट हो गये थे तो इन्होंने स्वयं गायन किया था, यही नहीं वे वाणी को प्राःय गाकर ही 'संगत' को सुनाया करता थे, क्योंकि संगीत का मानव मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन्होंने अपनी समस्त वाणी को राग-रागनियों व ध्वनियों के अनुसार सुव्यवस्थित किया है। इन्होंने सिक्ख मत के सिद्धान्त की स्थापना के समय कीर्तन पर भी अत्यधिक जोर दिया है :—

अनदिन कीर्तन केवल बखान ।
गिहस्त महि सोई निरबान ।।[2]

दार्शनिक तथा धार्मिक तत्वों की प्रधानता के बावजूद भी मानवीय भावों का चित्रण जिस सफलता से गुरु अर्जुन-देव जी ने किया है, वह उनकी उच्चतम कला का प्रमाण है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण उनकी वाणी के विशेष गुण हैं। वे सीधे-सादे सरल वर्णन में भी एक तरह का चमत्कार पैदा करके पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। प्रकृति चित्रण का एक उदाहरण दृष्टव्य है जिसमें प्रेम की कितनी विह्वलता है :—

ऊपरि बनै आकास, तलै धर सोहती ।
दहदिस चमकै बीजल, मुख कउ जोहती ।
खोजत फिरउ विदेसि, पीउ कत पाइऐ ।
हरि हां जे मसतकि होवै भाग, त दरस समाइऐ ।[3]

इनकी वाणी में भाषा और भावों की अद्भुत छटा है। भाषा भावों की वशवर्तिनी सी प्रतीत होती है। जैसा विचारों का अनुभव था, वैसे ही मिलते-जुलते चित्र, शब्द व अलंकार इन्होंने प्रयोग में लाये हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है :—

१. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब 'राग सोरठ' महल्ला ५
२. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' राग बिहागड़ी ' ४

१. 'Guru Arjun himself was a great vocatist and an intrumentalist, (English version- 'Guru Granth Sahib, by Gopal Singh M.A. Preface XVII).
२. श्री गुरु ग्रंथ साहिब 'राग गउड़ी सुखमनी' म० ५
३. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब 'फुनहे' महल्ला ५

अति सुन्दर कुलीन चतुर मुख ज्ञानी धनवंत ।
मृतक कहिऐ नानका, जिह प्रीति नहीं भगवंत ।[१]

गुरु जी की कविता में उपदेश सर्व-साधारण के लिए है। लोगों की घरेलू और दैनंदिन प्रयोग की चीजों के माध्यम से रूपक, उपमा आदि का प्रयोग किया है। इससे जनता मूल मंत्र को शीघ्र ही ग्रहण कर लेती है और धर्म व प्रभु भक्ति की ओर प्रेरित होती है। वैवाहिक जीवन कृषक जीवन व व्यापारिक जीवन ही नहीं बल्कि ग्रामीण खेलों, मेलों आदि से सम्बन्धित रूपकों को गुरुजी ने अपनी कविता में प्रधानता दी है। अतः सामाजिक क्रियाशीलता उनकी वाणी का मपत्वपूर्ण विषय रहा है।

गुरुजी की शैली स्पष्ट विश्लेषणमयी व्याख्यायुक्त एवं विस्तारमयी है। इन्होंने जिस विषय को छुआ उसे पूर्ण विस्तार के साथ स्पस्ट किया है। नाम स्मरण, गुरु महिमा, सत्संग, संत महिमा, आचार शुद्धि, नैतिक शिक्षा गृहस्थ जीवन की पवित्रता, संसार की नश्वरता, कर्मकाण्ड का उन्मूलन, सामाजिक सुधार आदि कितने ही विषय हैं जिनका गुरुजी की वाणी में अत्यंत विस्तार से स्पष्ट विश्लेषण किया गया है। सुखमनी साहिब में तो अनेक विषयों को बड़े ही स्पण्ट एवं साकार रूप से व्यक्त किया गया है

अतः हम कह सकते हैं कि गुरु अर्जुनदेव जी की वाणी एक ऐसी दुधारी तलवार है, जिसके अनुभव की एक धार जहां हृदय को गहरा प्रभावित करती हैं, वहाँ प्रतीकात्मक वर्णन की दूसरी धार पाठक को अति निकटता तथा समरसता की ओर खींचती है।[२] गुरु अर्जुनदेव जी लोक जीवन के अति निकट थे अतः वे आध्यात्मिक अनुभव के चित्र खींचने में अत्यन्त सफल हुए हैं। ये चित्र कहीं तो प्रकृति चित्रण द्वारा विभूपित हुए हैं और कहीं इन्हें आलंकारिक वर्णन एवं व्याख्यात्मक ढंग से सुसज्जित किया गया है।

किसी भी कवि की रचना उनके जीवन से अलग नहीं की जा सकती। जीवन विशेषतः कवि का जीवन वही है जो उसकी रचना में स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता है। दुसरे शब्दों में प्रत्येक कवि अपने समकालीन वातावरण से प्रभावित होता है। उससे निकट सम्बन्धित हर वस्तु, जीव तथा वातावरण उसकी काव्य शक्ति पर गहरा प्रभाव डालते हैं। इसलिए इन अर्जित अनुभवों और प्रभावों को समझना ही कविता को समझना है। गुरु अर्जुनदेव जी के जीवन पर बचपन में उनके नाना गुरु अमरदास जी के पवित्र संस्कार पड़े तथा माता-पिता के अनन्य प्रेम के साथ 'साधु-संगत' की शिक्षाएँ भी मिलीं। इन्हीं के आधार पर गुरुजी ने अपनी रचना की नींव सादगी और वास्तविकता पर रखी और समग्र वाणी रचना अनुभव और सच्चाई के आधार पर की। उन्होंने तो 'जिहि दिट्ठा मैं तेहो कहिआ' कहकर यह स्वीकार भी किया है। जहांगीर के शासन में उन्होंने शाँत स्वभाव से उसके द्वारा दी गयी प्रताड़नाओं को सहा परन्तु उनकी कविता में शांत रस प्रधान न होकर एक विशेष तरह का वीर रस है, क्योंकि ऐसे समय में तो 'तली धर सीस गली मोरी आओ' वाले सिद्धान्त को अपनाकर ही काव्य रचना संभव थी।

जहां अन्य गुरुओं की वाणी में मुख्य भाव जीवन संदेश का है, वहां गुरु अर्जुनदेव जी की वाणी जीवन का काव्य है। अन्य वाणी आनन्द का प्रकटीकरण है तो यह निपट आनन्द ही है। अन्य समस्त वाणी में शांत रस प्रधान है तो इसमें शांत रस के साथ श्रृंगार तथा वीर रस का भी मिश्रण है। गुरु अर्जुनदेव जी की वाणी में विराट और कोमल, शांत और श्रृंगार रस का अद्भुत संयोग है।

गुरु जी ने अपने युग में प्रचलित प्रायः सभी देशी रागों के अतिरिक्त पंजाबी के 'बारह माह', 'अष्टपदियाँ', 'चौपदे' 'काफियाँ' व कई अन्य छंद जैसे दोहरा, सिरखिडी आदि का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। छंदो में कहीं कहीं तुकें नहीं मिलती हैं, प्रतीत होता है कि इन्होंने तुक मिलाने का बनावटी प्रयास नहीं किया है। जहां तक अलंकारों का प्रश्न है, गुरुजी ने उनको सायास लाने की चेष्टा नहीं की है। सादगी ही उनकी कविता का प्रमुख अलंकार है। वैसे अनायास ही कुछ मुख्य अलंकार इनकी कविता में

१. श्री गुरु ग्रंथ साहिब 'बावन अखरी' महल्ला ५
२. भूमिका—गुरु अर्जुनदेव की वाणी—प्यारा सिंह पद्म

आ गये हैं, जैसे—उपमा, रूपक, श्लेष, अनुप्रास आदि । एक मिश्रित उदाहरण देखिये जिसमें कई अलंकारों की छटा अनायास ही छलकती सी प्रतीत होती है :—

कमल नैन अंजन सिआम, चंन्द्रवदन चित चार ।
मूसन मगन भरम सिउ खंड-खंड करि हार ।।[१]

गुरु अर्जुनदेव जी ने भिन्न-भिन्न विषयों के लिए उनके अनुकूल एवं परंपरानुसार ही भाषा का प्रयोग किया है, जैसे भक्ति रस एवं शृंगार रस के लिए ब्रजभषा का, सामाजिक विषयों के लिए ठेठ पंजाबी का तथा विरह वियोग के प्रकटीकरण के लिए सूफियों की भाषा मुलतानी या लहंदा का । निर्गुणवाद के सिद्धान्त को समझाने के लिए उन्होंने मिली-जुली सादी भाषा (सधुक्कड़ी भाषा) और शैली का प्रयोग किया है, तथा प्रयत्न किया है कि वह अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके । कहीं कहीं गाथा शैली को भी अपनाया है । एक उदाहरण देखिये:—

गाथा गुंफ गोपाल कथं मथं नाम मरदनह ।
हतं पंच संत्रण नानक हरि बाणे प्रहाणह ।।[२]

तद्‌भव शब्दों का प्रयोग काफी किया है पर मुहावरों का बहुत कम । ठेठ पंजाबी और मुल्तानी में कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग मिलता है ।

गुरुजी को संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था । उन्होंने 'सहकृति' श्लोकों में संस्कृत की शब्दावली का अत्यंत सुन्दर प्रयोग किया है । कई जगह उन्होंने संस्कृत में लिखित पुराणों और उपनिषदों की कथा-कहानियों का विवरण भी अपने काव्य में दिया है, जैसे सुखमनी साहिब की आठवीं अष्टपदी का प्रथम पथ :—

ब्रह्म गिआनी सदा निरलेप,
जैसे जल महि कमल अलेप ।
ब्रह्म गिआनी सदा निरदोख,
जैसे सूरु सख कउ सोख ।।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान, योग विद्या और उपनिषदों आदि के गंभीर सिद्धान्तों के प्रकटीकरण में भी इन्होंने संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया है ।

'बावनअखरी', 'सुखमनी साहिब', 'बारहमाह', 'दिन रैण', थिति, 'अंजुलिआं', चउबोले आदि रचनाओं में साधबाली हिन्दवी के साथ-साथ कुछ ब्रज भाषा का भी मिश्रण है[१] गुरुजी ने पोठोहारी (पंजाबी की एक बोली) का बहुत कम प्रयोग किया है और उनकी लहंदा रचना का झुकाव उत्तर-पश्चिमी पंजाबी बोलियों की तरफ न होकर पूर्व-दक्षिणी बोलियों की तरफ अधिक रहा है ।

अतः स्पष्ट है कि गुरु जी ने अपनी वाणी में सरल भाषा का और पूर्वी पंजाबी क्रियाओं का प्रयोग किया है । खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज आदि के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इनका प्रयोग पंजाब की सर्व-साधारण जनता में प्रचलित था । कहीं-कहीं संस्कृत की कोमल शब्दावली भी आ गयी है, जो कि उनके प्रिय विषय ब्रह्मज्ञान, ऐकेश्वरवाद, समदृष्टिता और संत महिमा आदि के लिए आवश्यक थी । गुरुजी के अपने जीवन की भांति उनकी भाषा में भी अमीरी और गरीबी, सादगी और सहजादगी, विलासिता और गंभीरता आदि का सोने और सुगन्ध की तरह मेल है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव जी की साहित्यिक देन अविस्मरणीय है । आदि ग्रन्थ का संपादन और उसमें उनका योगदान गुरुजी की विद्वता, साहित्यिक निपुणता और वैज्ञानिक सूझ का परिचायक है । पंजाब की यह सबसे पहली संकलित रचना है । इसके समान पंजाब तो क्या भारत के किसी और प्रदेश में भी कोई ग्रंथ नहीं मिलता ।

अन्ततोगत्वा गुरु अर्जुनदेव जी एक युग निर्माता महा-पुरुष थे । उनके नेतृत्व में भारत के व्यक्तिवादी समाज में

१. श्री गुरु ग्रंथ साहिब 'भोग' चउबोले संख्य १०
२. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब 'गाथा' महल्ला ५

१. नि० 'गुरु अर्जुनदेव जी दी बोली'- डा० सीतराम बाहरी (क्लासीकल अध्ययन सीरीज-गुरु अर्जुन, पृ० १२४)

पंजाब ने क्रांतिकारी प्रगति की है। उनका जीवन एक महान् अथवा सच्चे लोक नेता का जीवन था। उनकी मृत्यु एक शहीद की मृत्यु थी, जिससे सिक्खों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का पाठ पढ़ा। इसके बावजूद भी वे एक कलाकार थे, एक संत कवि थे जिन्होंने बड़े प्रमाण में काव्य रचना की। विषय का व्याख्यात्मक निरूपण, प्रकृति-चित्रण अनायास, आलंकारिक वर्णन, भाषा तथा शैली की विविधता तथा विभिन्नता जैसी आपकी वाणी में पाई गयी है वैसी किसी भी 'आदि ग्रंथ' के कवि में नहीं मिलती। साधारणतः विद्वान संतवाणी को उपदेशात्मक होने के कारण काव्य-कला की दृष्टि से ऊंची नहीं समझते। परन्तु गुरु अर्जुनदेव जी का काव्य इसका अपवाद है, जिसमें सत्य का वर्णन तो है ही, लेकिन उसे सौन्दर्य तथा प्रेम के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया गया है। इनकी वाणी में प्रत्येक प्रकार की विविधता उपलब्ध है। इन्होंने अनेक विचारों एवं भावों को लेकर जीवन के बहुविध क्षेत्रों से कल्पनाएं संग्रहित कर पिरोया है। इनकी सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि से जीवन का कोई भी क्रिया व्यापार नहीं बचा। सहानुभूति, उदारता, प्रेम, दया, क्षमा तथा विश्वास आदि इनके व्यतिगत गुण इनकी कविता में स्पष्ट झलकते दिखायी पड़ते हैं। गुरु नानक की भांति इनका पौराणिक ज्ञान भी अत्यधिक था। सभी भक्तों के उदाहरण इनके 'भक्त-रक्षक' होने के प्रमाण स्वरूप प्राप्य हैं। ये अपनी किसी भी कविता में ब्रह्म के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नहीं भूले हैं—यही इनकी वाणी का मर्म है।

गोकल चन्द नारंग ने अपनी पुस्तक 'Transformation of Sikhism' में इनकी बहुज्ञता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— "Now appeared on the Scene a man, who was born poet, a practical philosoher, a powerful organiser and a great Statesman"

—: ० :—

श्री गुरुचरणसिंह मोंगिया
प्राध्यापक : हिन्दी विभाग
गुरुनानक यूनिवर्सिटी, अमृतसर

आधुनिक कविता में बोध का संकट

कविता में अस्पष्टता और दुरुहता की शिकायत कोई नई नहीं है। हमारे प्राचीन साहित्यशास्त्र में अस्पष्ट और दुरुह काव्य को 'चित्रकाव्य' या 'कूट-काव्य' कहा गया था। और उसे 'अधम काव्य' की कोटि में रखा गया था। कुन्तक ने श्रेष्ठ काव्य उसे माना जिसमें पद और अर्थ के बीच समय का व्यवधान न आए। श्यामदेव आचार्य ने 'शास्त्र-कवि' को सबसे निम्न कोटि का कवि माना था। परन्तु विडम्बना यह है कि आचार्यों के ये निषेधात्मक निर्देश भी चलते रहे, और साथ ही साथ दुरुह तथा शास्त्रीय काव्य की रचना भी होती रही। बराह मिहिर, हर्ष तथा माघ ने संस्कृत में दुरुहतम काव्यपदों की रचना की। श्री हर्ष ने वैशेषिक मतानुयायी आचार्यों को 'अंधकार में विचरने वाले उलूक दर्शी' कहकर उन पर छींटाकशी की थी पर वास्तव में उनका यह व्यंग्य लौटकर प्रहार करने वाले 'बूमरेंग' की तरह उन्हीं पर आता है। हर्ष तथा अन्य हर्ष-धर्मी कवियों की कविता की तमिस्त्रा-धर्मी अर्थ-गर्भिता को समझने तथा समझाने के लिए किसी उलूक-धर्मी की दृष्टि ही अपेक्षित होगी।

हिन्दी की पुरानी कविता में भी सुन्दरदास ने काव्य में सरलता को उसका गुण तथा दुरुहता को उसका दोष माना था। लेकिन फ़िर भी सूर तक ने कूट पदों की रचना की और विहारी तथा केशव ने सप्रयास पाठकों को अर्थ की भूल-भुलैयों में उलझाने में काव्य का चरम सौन्दर्य और सार्थकता समझी।

पश्चिमी साहित्य जगत में यूरीपीड़ीज तथा होरेस ने सरलता को काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण मानने पर बल दिया था। यूरीपीड़ीज ने कहा था—'ओह ! लैट अस एट लीस्ट यूज़ द लेंगुएज ऑव मेन'। होरेस ने कवियों को निर्देश देते हुए कहा था कि अतिसंक्षिप्तता तथा अतिसूत्रात्मकता काव्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। लेकिन इस सब के बावजूद होरेस से पहले और बाद की ग्रीक कविता में हमें दुरुहता के पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। होमर तथा सोफ़ोक्लीज़ से लेकर आधुनिक ग्रीक कवि 'कैम्पर्ट' तक ने दुरुह काव्य की रचना की है। आधुनिक अंग्रेजी कवियों—डॅन ब्लैक, यीट्स तथा इलियट ने दुरुहता की इस परम्परा को नए आयाम दिए और इन कवियों को आलोचकों ने श्रेष्ठ कवि भी ठहराया। अस्पष्टता तथा दुरुहता की एक गुण के रूप में स्थापना सबसे पहले अरस्तू ने की। उसने 'एम्पेडोक्लीज़' को उद्धृत करते हुए कहा था कि कवि अस्पष्ट काव्य की रचना तब करता हैं जब उसका स्वयं का अनुभव प्रौढ़ हो जाता है और जो चीज़ें उसे अब तक स्पष्ट दीखती थीं वही अब स्पष्ट दीखने लगती हैं। आधुनिक आलोचक तथा कवि होरेस की अपेक्षा अरस्तू की बात से अधिक सहमत हैं और अस्पष्टता तथा दुरुहता को काव्यगुण ही अधिक मानते हैं। यूं इसकी निंदा करने वाले आलोचक आधुनिक साहित्य में भी मिल जाएंगे लेकिन अब बीसवीं सदी का उलझा हुआ यथार्थ हमें इन आलोचकों की बात मानने को विशेष प्रेरति नहीं करता।

इसी संदर्भ में, एक ओर वाल्टर पेटर तथा दूसरी ओर टेनीसन के मतों को रखें तो इस वाद-विवाद की पृष्ठभूमि और स्पष्ट हो जाएगी। पेटर ने कहा था कि एक टेढ़ी बोतल में आप सीधी छड़ी को नहीं रख सकते याने रूप विधान का सरल होना कथ्य की सरल अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। हमारे यहाँ भी विहारीलाल ने अपने इष्ट को 'त्रिभंगी' कह कर लगभग ऐसी ही बात कही थी। दूसरी ओर टेनीसन ने एक शब्द में ही वाग्देवी के समस्त सौन्दर्य

को पुष्पित तथा व्यक्त कर देने की गर्वोक्ति इस प्रकार प्रस्तुत की थी :

'आल द चार्म आॅव आॅल द म्यूज़िस
आॅफ न फ्लावरिंग इन ए लोनली वर्ड।'

आधुनिक कवि तथा कलाकार यह कहने में गर्व का अनुभव करने लगे हैं कि उन्होंने अपना काव्य दोबारा पढ़ा और उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई कि वह अपना लिखा एक भी शब्द नहीं समझ सके। सल्वादार दाली ने कहा था कि जब मैंने मुड़कर अपने चित्र को देखा और उसका अर्थ नहीं समझ सका तो मैं आश्वस्ति और संतोष से भर गया। टी० एस० इलियट जिन्हें 'अंग्रेजी कविता का प्रेत' कहा जाता है कि प्रसिद्ध प्रेहेलिकानुमा कविता 'वेस्ट-लैंड' का इतिहास भी ऐसी ही बात कहता है। इलियट ने पहले इस कविता को अपनी टिप्पणियों के बिना पत्रिकाओं में छपवाया था। बाद में कुछ समय बाद जब उन्होंने स्वयं अपनी यह कविता पढ़ी तो उन्हें कविता में आए कुछ पौराणिक तथा प्रजननात्मक संकेत अत्यन्त दुरुह लगे। फलस्वरूप उन्होंने ये टिप्पणियाँ जोड़ दीं। इन टिप्पणियों ने आलोचकों को इतना अधिक विचारोत्तेजित किया कि इलियेट को अपने एक निबंध में यह स्वीकार करना पड़ा कि उनकी टिप्पणियाँ उनकी कविता से अधिक महत्वपूर्ण हो गई हैं। इलियट की इस कविता की व्याख्या में लिखे गए ग्रन्थों की संख्या शायद मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट' पर लिखे गए ग्रन्थों से कम नहीं है। इलियट को इस बात पर खेद भी था कि अब कोई भी पाठक उनकी टिप्पणियों के बिना उनकी यह कविता पढ़ने को तैयार नहीं। इलियट के काव्य की यह दुर्बोधता सायास नहीं थी, यह युद्धोत्तर क्लीव तथा नपुंसक पुरुषत्व एवं कृत्रिम नारीत्व के प्रतिबिंब के प्रामाणिक प्रतिफलन के आग्रह का ही परिणाम था कि यह कविता इतनी दुरुह हो गई। उन्होंने अन्यत्र कहा भी था कि आज के साधारण व्यक्ति का अनुभव संसार जब इतना अधिक अराजकतापूर्ण व्यतिक्रमित तथा विभाजित हो गया है, तब एक संवेदनशील कवि के अनुभव संसार में दुरुहता तथा संकुलता कैसे न आएगी ?

क्रोचे को यदि इस वादविवाद की पहली कड़ी मान लिया जाय तो कहा जा सकता है कि क्रोचे ने सौन्दर्यदृष्टि के पहले स्तर को 'अस्पष्ट संस्कारों का स्तर' कह कर इस परिचर्चा की वास्तविक शुरुआत की थी। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रख लेना होगा कि क्रोचे ने जिस अस्पष्टता को नकारात्मक योग्यता (नेगेटिव केपेबिलिटी) कहा था, इलियट ने उसे काव्य के सृजनात्मक तथा सकारात्मक मूल्य के रूप में सर्वप्रथम स्थापित किया। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री जार्ज सैंतायन ने इस समस्त वादविवाद को ही निरर्थक ठहराते हुए कहा कि कविताओं को अनुभव करना बेहतर है न कि उससे अनुभव करने की शिक्षा दीक्षा लेना।

आज के कवि के काव्य में अस्पष्टता और दुरुहता की स्थिति के आ जाने का मूल कारण यह है कि आज का कवि सघन बिम्ब मतिकाओं में अपनी बात कहता है। प्रसिद्ध अतियथार्थवादी कवि आन्द्रे ब्रेतों ने नारा दिया था 'बिम्ब बोलेंगे, हम नहीं।' 'हिन्दी के आधुनिक कवि शमशेर बहादुर सिंह ने भी लगभग ऐसी ही बात कही है—

'बात बोलेगी, हम नहीं
भेद खोलेगी, बात ही'

आन्द्रे ब्रेतों का मत था कि दो असम्बद्ध शब्दों को पास पास रख देने से एक तीसरा अर्थ प्रकट होता है जो यथार्थ से परे है और इसलिए दिव्य के निकट है। फ्रेंच कवि बर्लेन ने भी कहा था—

'मोर ओवर, यू मस्ट नाट गो चूज़िंग युअर वर्ड्स
विदाउट स्कॉर्न
नथिंग इज़ डीअर व्हेन द इम्प्रेसाइज एंड प्रेसाइज आर ज्याएंड'

हिन्दी के आधुनिक कवि 'मुक्तिबोध' ने 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में इन्हीं असम्बद्ध बिम्बों की सम्बद्ध परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा था— 'धीरे-धीरे मेरी कविता सघन बिम्ब मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। उनकी कविता का एक उदाहरण इसे स्पष्ट कर देगा—

'लगता है ये कमरे नहीं हैं ठीक
इन सुनसान भीतों पर
लगे जो आइने उनमें
स्वयं का मुख
जगत के बिम्ब
दिखते ही नहीं
जो दिखता है वह
विकृत प्रतिबिम्ब है उद्भ्रान्त
ऐसा क्यों ?'

आधुनिक कवि की अपनी शिकायत यह है कि जब दर्पण ही टूटा पड़ा है और उसमें प्रतिबिंबित होने वाला वस्तु जगत भी इतना अस्तव्यस्त है तो ऐसी स्थिति में कवि अपने काव्य-बिम्ब को सरल तथा अक्षत रूप में किस प्रकार प्रस्तुत कर सकता है ? मुक्ति बोध इसी कविता में आगे कहते हैं :—

'ये आइने किस काम के
जिन में अंधेरा डूबता ?'

'आइने को यदि अभिव्यक्ति का 'अनवरत प्रतीक' (परपेचुअल सिम्बल) मान लिया जाए तो हमें इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ अन्य अनेक स्थलों पर भी मिल जाएंगी। स्वयं मुक्तिबोध ने यह प्रश्न उठाया था :

'आइने हैं गलत या कि देखना ही गलत है ?'[1]

ऐसा ही प्रश्न श्रीकान्त वर्मा के सामने भी है :

'मेरे सामने समस्या है, किस को किस नाम से पुकारूँ
आईने को आईना कहूँ या (टूटा हुआ)[1] इतिहास ?'

अंग्रेजी के आलोचक 'हॉपर' का कथन है कि पश्चिमी चेतना दो हजार वर्षों से जिस शास्त्रीय तथा जड़ाऊ दर्पण में अपना चेहरा देखने की आदी हो गई थी, आज वह दर्पण टूट चुका है। इसलिए कवि और पाठक एक दूसरे को मुँह चिढ़ाते से लगते हैं। अज्ञेय ने शायद इसी को 'अधिक घिसने से वासन का मुलम्मा छूट जाना कहा था। प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार 'गिरॉडाक्स' ने अपने नाटक 'टाइगर एट द गेट्स' में हेलेन नामक पात्रा द्वारा ऐसा ही प्रश्न पूछा है : 'यदि तुम दर्पण तोड़ दो तो क्या तुम्हारी छवि वैसी ही दिखाई देगी जैसी वह पहले दिखाई देती थी ?' एक दूसरा पात्र हैक्टर उत्तर देता है—'देट इज़ द होल क्वेश्चन।'

हिन्दी की नयी आलोचकत्रयी अशोक वाजपेयी, नामवरसिंह तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नई कविता में बिम्बों के इस घटाटोप का विरोध किया है और इसके विपरीत 'सपाट बयानी' और 'नंगी भाषा' का समर्थन किया है। लेकिन नयी कविता और अकविता को पढ़ने पर तो यही मालूम होगा कि यह सपाटबयानी उन बिम्बों से कहीं अधिक दुरुह और अस्पष्ट है। प्रभाकर माचवे की यह कविता देखिये :—

'यह पेपरवेट पिनकुशन
स्याही-सोख ऐश ट्रे

× × ×

चित्रकला है निराकार पौलक मैक्सन, पॉल क्ले शब्द अर्थ से दूर गए

× × × ×

घिसे हुए प्रतिमान और संकेत सभी मजबूर हो गए

इन पंक्तियों में क्या अनायास ही प्रस्तुत विषय का विश्लेषण भी झलक नहीं आया है ?

अस्पष्टता तथा दुरुहता का एक महत्वपूर्ण आयाम अमूर्तता भी है। आधुनिक चित्रकला में इसी अमूर्तता के कारण 'बोध का संकट' उपस्थित हो गया है। हर्बर्ट रीड ने अपनी पुस्तक 'दि फ़िलासफी ऑव माडर्न आर्ट' में इसी अमूर्तता का पक्ष लेते हुए प्रसिद्ध चित्रकार गेबो के इस मत को उद्धृत किया है। 'अमूर्तरचना करने वाला कलाकार ही वास्तविक दार्शनिक हो सकता है। सार्त्र का कहना है कि कविता से ही दुरुहता की शिकायत करना ठीक नहीं। कविता को समझने के लिए किसी सुविधाजनक फार्मूले का इस्तेमाल करके हम काव्यभाषा के अन्तर्बाह्य किसी को नहीं समझ सकते : 'द सब्स्टांस ऑफ़ ए पोएम डज़ नाट डिपेन्ड अपॉन द आब्स्क्यूरिटी आर काम्पलेक्सिटी ऑव इट्स लैंगुएज आर अपॉन व्हेदर ऐन इंटेलेक्चुअल ग्रास्प ऑव द आरगुमेंट फ़ार्म्स ऐपार्ट ऑव द एंजॉइंग ऑव इट? पोएटिक लेंगुएज मे बी ट्रांसपेरेंट एंड डिसकर्सिव, एंड प्रीज़···मे बी ओपेकँ एंड रेटोरिकल। द सब्स्टांशियल करेक्टर आव द पोएम केन नाट बी अकांउटेड फ़ार बाइ ऐनी शार्ट फ़ार्मूला अबाउट एप्रोचिंग लेंगुएज फ्राम इनसाइड आर आउट साइड।'

(सार्त्र : आइरिस मर्डाज़)

यह अमूर्तता अपनी अतिवादिता में कवि के लिए एक सुविधावादी पलायन का रास्ता भी बन जाती है। डब्लयू वारिंगर ने इसी आशंका को व्यक्त करते हुए कहा है :—

'इन एब्स्ट्रेक्ट मेन फाइन्ड्स रिलीफ़ फ्राम द ओवर-व्हेलमिंग केऑस ऑव द वर्ल्ड एज़ ही एक्सपीरिएंसिगं इट।

फ्रायड ने इसी अमूर्तता को मनोरोग तक कह दिया था—

एबस्ट्रेक्शन इज़ नथिंग बट ए न्यूरॉटिक एस्केप फ्राम द रिएेलिटिज ऑव लाइफ़।'

---

१. एवमेव (SIC)

(उद्धृत : डिलेमा ऑव बीइंग माडर्न : जे० पी० होडिन' पृ० ५९)

काव्य में अमूर्तता तथा दुरुहता से मुक्ति पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न पर मार्कसवादी आलोचकों ने सब से ज्यादा ध्यान दिया है । उनका समाधान यह है कि काव्य भाषा जनता के लिए बोधगम्य होनी चाहिए । इसके लिए कवि को जनभाषा से शब्द चुन कर अपनी काव्य भाषा को समृद्ध करना होगा । प्रश्न उठता है कि जन-बोध के अभिधात्मक स्तर तक उतार कर लाई गई अभि-व्यक्ति क्या सचमुच काव्य के गुण में कुछ वृद्धि करती है ? मार्क्स ने कहा था कि जो साहित्य जानबूझ कर बोधा-त्मकता की अवमानना करता है वह यथार्थ की निर्णायक धार से वंचित है (ए लिट्रेचर व्हिच डेलिब्रेटली रिएक्ट्स काम्प्रेहिन्शन लैक्स द डिसाइसिव ऐज ऑव रिएलिटी' उद्धृत अर्न्स्ट फ़िशर : द नसेसिटी आव आर्ट' : पृ० २०९) ।

हर्बर्ट रीड ने मार्क्स के इस मत का विरोध करते हुए कहा था कि यदि जनसाधारण को ही काव्य को प्रेषणीयता की कसौटी मान लिया जाए तो हमें अपने समस्त प्राचीन क्लासिकों को साहित्य के क्षेत्र से निकाल बाहर कर देना होगा । मार्क्स के उक्त मत को देखकर यह सोच लेना भी ठीक नहीं होगा कि सभी मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों ने काव्य में मात्र अभिधात्मक गुण को ही श्रेष्ठतम ठहराया है । प्रख्यात मार्क्सवादी दार्शनिक हर्ज़न ने अपने निबन्ध 'प्रतीकवाद तथा बोहमे' में प्रख्यात लेखक 'याकोब बोहमे' की रचनाओं में अस्पष्टता तथा अमूर्तता की प्रशंसा की थी । हर्जन का कथन था—'बोहमे के कल्पना जगत में आ कर रहस्यवादियों का झिलमिल अवगुण्ठन फटी चिन्दियों वाला कफ़न बन गया है जिसमें से सत्य का चन्द्रमुख झल-कता है । उसकी भाषा अटपटी और अस्पष्ट है परन्तु उस का कहने का ढंग बहुत पैना, मौलिक, तेजस्वी एवं अग्निमय कवित्व से परिपूर्ण है। (दे० दर्शन, साहित्य और आलोचना: पी० पी० एच०, दिल्ली पृ० : १२१) ।

अतः मार्क्सवादियों के इस मत से तो सहमत हुआ जा सकता है कि कवि का कथ्य जनता का सत्य होना चाहिए परन्तु वह जनसुलभ भी हो इसे एक नियम के रूप में स्वी-कार नहीं किया जा सकता । यहाँ हमें लेनिन की यह बात याद रखनी होगी कि अधिक लोगों की समझ में आ जाए इसलिए बात को 'वल्गेराइज़' नहीं करना चाहिए । आधु-निक कविता कवि से ही नहीं, पाठक से भी एक प्रकार की मानसिक तथा बौद्धिक सचेतना की उम्मीद रखती है । उसे समझने के लिए पाठक का सहृदय होना ही काफ़ी नहीं है । उसे सचेत भी होना पड़ेगा ।

आधुनिक कविता को प्रायः एक 'जंगल' की उपमा दी गई है । इस जंगल की टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियां ऊँचे टीले तथा घनी घाटियाँ ही इस का सौन्दर्य है । बादलेयर ने अपनी एक कविता में कहा था—'काव्य एक ऐसा जगत है जिसमें कवि को प्रतीकों के जंगल में से गुजरना होता है । काव्य एक ऐसा मन्दिर है जिसमें स्थापित इष्ट मूर्ति तक पहुंचने के लिए चक्करदार सीढ़ियों तथा गतिमान स्तम्भों के बीच से गुजर कर जाना पड़ता है । 'मुक्तिबोध ने भी लगभग ऐसी ही बात कही थी । अपनी कृतिः 'एक साहित्यिक की डायरी' में वह लिखते हैं : 'मुझे लगता है कि मन एक रहस्यमय लोक है । उसमें अंधेरा है । अंधेरे में सीढ़ियाँ हैं । सीढ़ियाँ गीली हैं । सब से निचली सीढ़ी पानी में डूबी है । वहां काला जल है । उस अथाह काले जल में कोई बैठा है । वह शायद मैं ही हूँ ।'

ऐसे रहस्यलोक को कविता में बाँधने का काम आसान नहीं है । ऐसे दुःस्वप्नों को काव्य का विषय बनाने पर काव्य का दुरुह तथा बेसिलसिला हो जाना स्वाभाविक ही है । मुक्तिबोध ने 'डायरी में अन्यत्र कहा भी है—कविता में यह सिलसिला टूट जाता है—उसी तरह जैसे स्वप्न के भीतर स्वप्न आते हैं—उलट पुलट हो कर—'कविता में मैने उस उलट-पुलट का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है ।' कविता को यदि स्वप्न मान लें तो फ्रायड की इस बात से सहमत होना होगा कि ये स्वप्न चाहे जितने भी ऊल-जलूल क्यों न लगें, इनके पीछे कोई गूढ़, गम्भीर तथा सांके-तिक अर्थ अवश्य छिपा होता है और यही अर्थ उन्हें अस्पष्टता तथा दुरुहता के दायरे में खींच ले जाता है ।

कविता में प्रेषणीयता के इस संकट को कवियों तथा आलोचकों ने अपने अपने स्तर पर महसूस किया है । लेसली फ़ियेडलर ने कहा है—'आर्ट मस्ट बी रेंडम एंड इनडिट-र्मिनेंट । ए प्रीसाईज कम्यूनिकेशन इज इम्पासिबल इन आर्ट ।

(क्रिटिकल क्वार्टरली : वाल्यूम : ६६ क्रमांक : ४, शरद : १६६६, सम्पादकीय, पृ० २६१) माइकेल हम्बर्जर ने अपनी पुस्तकक' द ट्रुथ आव पोएट्री' में निरर्थकता तथा परायेपन को आज की काव्य-भाषा की प्रमुख विशेषता कहा है। उनका कथन है—'इन माडर्न राइटिंग, इट इज़ मीनिंगलेस टु स्ट्रेस आन द क्रीएशन आव मीनिंगफुल पैटर्न्स आव वर्डस। द एलियनेशन फ्राम लेंगुएज हैज बिकम हाई इन मच एडवान्इड सोसास्टीज।'

हिन्दी साहित्य में अस्पष्टता तथा दुरुहता का गुणात्मक समर्थन करने वाले विद्वानों में इलाचन्द्र जोशी प्रमुख हैं। उन्होंने खुले शब्दों में अस्पष्टता को ही कविता की सही पहचान (आइडैंटिटी) बताया है। उन्हीं के शब्दों में: 'श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है।. इस वस्तु-जगत की स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्टता तथा अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए कविता की सृष्टि हुई है अन्यथा उसका कोई उद्देश्य नहीं रह जाता। यदि स्पष्ट बात कहनी है तो कविता की आवश्यकता ही क्या है ? साधारण गद्य की सरल भाषा में वह और भी अच्छी तरह कही जा सकती है।'(इलाचन्द्र जोशी 'काव्य में स्पष्टता तथा रूपक रस :' साहित्य सर्जना पृ : २१,२२) श्री बलभद्र तिवारी ने जोशी जी की बात का समर्थन करते हुए कहा है - 'अस्पष्टता सौन्दर्य की साधक है, बाधक नहीं' (इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास : बलभद्र तिवारी पृ ५१)

हिन्दी के आधुनिक काव्य में हमें इस अस्पष्टता तथा दुरुहता के संकेत निराला से ले कर अकविता आन्दोलन तक में मिल जाते हैं। निराला ने बहुत पहले कहा था—

'मौन मधु हो जाए, भाषा मूकता की आड में
मन सरलता की बाढ़ में, जल बिंदु सा बह जाए।'

निराला की इस कथित सरलता के पीछे मौन की जो रहस्यात्मक जटिलता छिपी है वह छिपाये नहीं छिपती। आज के नये कवि परमानन्द श्रीवास्तव ने इसी संकट को अनुभव करते हुए कहा है—'नयी कविता की भाषा जिह्वा पर नहीं, बल्कि दांतों के बीच की जगहों से सटी हुई है।' अधुनातन 'अकविता' में से सौमित्र मोहन की यह पंक्तियाँ देखिए।

'उसने एक साथ कई चीज़ों के बारे में सोचा
दम तोड़ते पिता, पिकासो के नौकर और लगातार
होने वाली बारिश के बारे में और बहुत
कम पानी के गड्ढे में घुस कर
हाथ पैर मारने के लिए।

और सम्भवत: यही आज की कविता में अस्पष्टता तथा दुरुहता का हेतुकथन है और स्पष्टीकरण भी।

—: o :—

श्री रविन्द्रनाथ
(हिन्दी विभाग,
हंसराज कालिज, दिल्ली)
आई-१७६, अशोक विहार,
वज़ीरपुर, दिल्ली-५२ ।

छायावादी काव्य में युगाभिव्यक्ति : आक्षेप और समाधान

भारत में सन् १९१८ के पश्चात् का काल राष्ट्रीय चेतना का प्रसार काल रहा है। लगभग इसी समय से छायावादी काव्य की रचना प्रारम्भ हुई है। अतः राष्ट्रीयता और छायावाद का विकास समानान्तर हुआ है। तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण एवं आन्दोलनों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव काव्य पर पड़ता है क्योंकि 'साहित्य का युग से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। युग की प्रवृति और प्रक्रिया की प्रतिक्रिया साहित्य पर बड़े वेग से होती है। अतः युग का प्रतिबिम्ब भी साहित्य में मिलता है।[1] छायावादी काव्य इस सन्दर्भ में अपवाद नहीं है, फिर भी इस काव्य-धारा पर यथार्थ से पलयन एवं इसके कवियों पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वहीनता का आरोप लगाया जाता रहा है। शुक्ल जी ने खीज कर यहां तक कह दिया—'हम नहीं समझते कि बिना हिन्दी वालों की खोपड़ी को एकदम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थ शून्य वाक्य 'छायावाद' के सम्बन्ध में कैसे कहे जाते हैं कि 'यह नवीन जागृति का चिन्ह है, देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है, इत्यादि, इत्यादि।' भला, देश की जागृति से, असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झांकी आदि का क्या सम्बन्ध ? क्या हिन्दी के वर्तमान साहित्य क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है।[2] प्रत्यक्षतः ही, शुक्ल जी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानकर ही विचार किया

१. सत्येन्द्र (डा०) : कला, कल्पना और साहित्य, पृ० ३७

२. शुक्ल, रामचन्द्र : चिन्तामणि (दूसरा भाग,) पृ० १६६

है। छायावाद को प्रेम और सौन्दर्य का काव्य मानकर चलने वाले आलोचकों ने भी इसी तरह के आक्षेप किये हैं—

'छायावाद ने सौन्दर्य की खोज तो की, लेकिन जीवन की समालोचना न की। .... छायावादी काव्य ने उन सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि की ओर ध्यान न दिया जिससे जीवन ही कुचला जा रहा था। जबकि स्वतन्त्र जीवन ही कुचला जा रहा था तब सौन्दर्य-सुषमा की खोज कौन करता और वे कहाँ मिलते।'[1]

'जब देश जग रहा था, तब ये (छायावादी कवि) सो रहे थे, जब देश स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा था तब ये विरह के गीत गा रहे थे।'[2]

"छायावादी कवियों ने हमें क्या दिया ? केवल अपने रुग्ण हृदय को असल रसावेशमयी भावनाओं के वासनोद्गारों से सारे साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त उन्होंने क्या किया ?"[3]

छायावाद यथार्थ से दूर पराजित मनोवृत्ति का काव्य भी कहा जाता है—

"महासमर के बाद भारतीय राष्ट्रवाद अपने शोषकों से अनेक बार मोर्चा लेता है और पराजित होकर भी नई शक्ति धारण करता है। इस विषम परिस्थिति का सामना करने की क्षमता न रखने वाले हिन्दी कवि छायावादी बन

१. शुक्ल, केसरी नारायण : आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृ० १८०

२. 'मानव', विश्वम्भर : सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ४२

३. जोशी, इलाचन्द्र : विवेचना (छायावादी कविता का विनाश क्यों हुआ), पृ० ४२

गए और धरती से दूर कल्पना के परिलोक में बस गए।"[1]

"छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है।"[2]

इन सब आरोपों का आधार छायावाद की व्यक्ति-चेतना है जिसे इलाचन्द्र जोशी ने 'एकान्त स्वार्थमयी भावना[3] कहा है।

छायावाद पर लगाये गए इन आक्षेपों का समाधान भिन्न-भिन्न स्तरों पर दिया जा सकता है। सर्वप्रथम अध्यात्मवाद को लें। छायावादी काव्य में असीम-ससीम के मिलन के उल्लासपूर्ण गीत हैं उच्चतर सत्ता के प्रति आस्था है और जीवन के आदर्शपरक मूल्यों की स्वीकृति है। इन सबका उपयोग विश्वास-जन्य साहस की प्राप्ति के लिए हुआ है। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास-हेतु स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द एवं महात्मा गांधी ने आध्यात्मिकता का भी आधार ग्रहण किया था। "सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वालों को एक सूत्र में बांधने के लिए अध्यात्मवाद का प्रयोग सर्वत्र एक नारे के रूप में किया गया······छायावादी कवियों में भी अधिकांश ने इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊंचा किया है। निराला का 'जागो फिर एक बार', 'राम की शक्तिपूजा', प्रसाद की 'कामायनी' आदि रचनाएं इसका प्रमाण हैं।"[4]

इसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र में भी विद्रोह का कारण छायावादी कवि की स्वातंत्र्य-चेतना है। स्वतन्त्रता का केवल राजनीतिक अर्थ ही नहीं है, इस व्यापक भावना में सभी प्रकार के बन्धनों का विरोध सम्मिलित है। स्वच्छन्द प्रेम के प्रति छायावादी कवि का आकर्षण उसके बन्धन-मुक्त हृदय का परिणाम है। इसलिए "उसने केवल प्रेम-

१. गुप्त, प्रकाशचन्द्र : साहित्यधारा, पृ० ८२

२. माचवे, प्रभाकर : तार-सप्तक (द्वितीय संस्करण), पृ० १८४

३. "छायावादियों का सारा जीवन-चक्र यान उनकी एकान्त स्वार्थमयी भावना के पेट्रोल से चलता है।—जोशी, इलाचन्द्र : विवेचना, पृ० ६४

४. शंभूनाथ सिंह : छायावाद-युग, पृ० २८,२९

राज्य में ही रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया, बल्कि जीवन के जिस क्षेत्र में उसे विषमता, पराधीनता और अन्याय दिखाई पड़ा, वहीं उसने संघर्ष आरम्भ कर दिया।[1] इस रूप में स्वच्छन्द प्रेम-भावना तत्कालीन जन-मानस की सामन्तीय एवं साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह-चेतना ही है। यह चेतना यद्यपि वैयक्तिक स्तर तक ही रही, किन्तु इसके "कारण बंधी बंधाई दृष्टि से जीवन को देखने की जड़ पद्धति टूट गई। दृष्टि उन्मुक्त, हृदय उन्मुक्त हुआ, लीकों पर चलता हुआ जो भाराक्रान्त परंपरा का आतंक था वह नये युग की चेतना से छिन्न-भिन्न हो गया।"

इस प्रकार किन्हीं अर्थों में भी छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का अभाव नहीं माना जा सकता। आचार्य वाजपेयी ने खेद एवं आश्चर्य व्यक्त किया है— "हमारे समीक्षकों ने इस अत्यन्त सीधी और सच्ची बात को समझने की चेष्टा नहीं की कि हमारे इस युग (सन् '२० के बाद) के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी।"[2] निःसन्देह भारत-भारती जैसी अभिधात्मक एवं इतिवृत्तात्मक शैली में उद्बोधन करने वाली कृतियाँ छायावादी काव्य में नहीं हैं किन्तु शैलीगत अन्तर के आधार पर मूलवर्ती चेतना की स्थिति से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में लिखे गए प्रसाद, निराला के आह्वान गीतों में स्पष्टतः राष्ट्रीय चेतना की ही स्वर-लहरी है। परिमाण में भी राष्ट्रीय कविताएं कम नहीं लिखी गईं। सन् '२० के पश्चात् सभी राजनीतिक आन्दोलनों की अभिव्यक्ति तो इस काव्य-धारा में नहीं है किन्तु काव्य और इतिहास में कुछ तो अन्तर होना ही चाहिए। और फिर साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा काव्य में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति कुछ भिन्न प्रकार से ही होती है। डा० द्विवेदी के विचारानुसार "इस (स्वाधीनता को लक्ष्य बनाकर चलाए गये) महान आन्दोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बन्धन-मुक्त किया। यही बंधन-मुक्त चित्त काव्यों, नाटकों और उपन्यासों में नाना

१. नामवरसिंह : छायावाद, पृ० ६५

२. वाजपेयी, नन्द दुलारे : आधुनिक साहित्य (भूमिका पृ० २१-२२

भाव प्रकट से हुआ परन्तु काव्य में वह जिस रूप में व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित जैसा लगा।'[1] वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना अपने उद्भव के पश्चात् निरन्तर गतिमान ही रहती है। भारत में पुनरुत्थान की जो लहर १८५७ की क्रांति के पश्चात् उठी, वह समयानुसार भिन्न-भिन्न रूपों में साहित्य में अभिव्यक्ति पाती रही है। भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय चेतना का रूप सामाजिक एवं धार्मिक अधिक था। द्विवेदी युगीन कवियों ने प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान पर अधिक बल दिया। छायावादी काव्य के सृजन-काल तक स्वराज्य की कल्पना स्पष्टतर हो गई थी। भारतीय जनता सामूहिक रूप से अपने स्वप्नों को साकार करने का प्रयत्न कर रही थी। तदनुरूप ही छायावाद 'हरिश्चन्द्र और द्विवेदी युग की राष्ट्रीय विकास भूमियों को अधिक गहराई, उर्वरता और प्रसार देता है।'[2] भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय चेतना सक्रिय नहीं थी। युगीन साहित्कार के मन में प्रबल उत्साह होते हुए भी उसे संयत रखना पड़ता था। इसी विवशता के कारण देशभक्ति को राज-भक्ति के अंचल का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। दूसरे इस युग में प्रधान स्वर हिन्दुत्व के पुनरुत्थान का था। अपने संकुचित क्षेत्र के कारण इस समय का हिन्दी साहित्य तत्कालीन समग्र भारतीय समाज की भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं दे पाया। क्रांति का स्वर भी इस युग के साहित्य में नहीं मिलता। वस्तुतः जन सामान्य सन् सत्तावन की क्रांति की विफलता से विदेशी शासन को एक अनिवार्य बुराई समझ कर शिथिल हो गए थे।[3] अतः तत्कालीन साहित्यकार को प्रथम उन्हें सचेत करता था, और यह कार्य सामाजिक सुधार से प्रारम्भ हुआ। सांस्कृतिक आन्दोलनों द्वारा जागरण का प्रत्यक्ष प्रभाव द्विवेदी युगीन काव्य में देखा जा सकता है, जहां वर्तमान दुर्दशा की ओर संकेत करते हुए अतीत-गौरव-गान के द्वारा जन-सामान्य में उत्साह जगाया गया है। छायावादी कवि एक कदम और आगे बढ़े और अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने साहित्य के द्वारा क्रांति का मार्ग दिखाया। "स्वाधीनता-आन्दोलन संकीर्ण रूढ़ियों को छोड़कर स्वराज्य की जिस व्यापक कल्पना की ओर बढ़ रहा था, उसका विजयघोष सबसे पहले छायावादी कविता में सुन पड़ा। ......समाज में आमूल परिवर्तन करने की भावना छायावादी कवियों की अत्यन्त प्रिय भावना थी।"[1]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना अपने उदात्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। उसका एक छोर राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम से बंधा है तो दूसरा समग्र मानवता की कल्याण-भावना से। परिस्थितियों के आग्रह और शैली के वैशिष्ट्य के कारण राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का रूप सर्वथा प्रत्यक्ष नहीं रहा, फिर भी कहीं-कहीं तो छायावादी कवि स्पष्ट ही विदेशी शासकों का विरोध करता है और अपने स्वर्णिम अतीत का गौरव-गान भी गाता है। वह युग ही राष्ट्रीय जागरण एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष का था अतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपों- अभावात्मक पक्ष (वर्तमानदुर्दशा की अनुभूति) उत्साह-व्यंजक रूप (पराधीनता व दमन के विरुद्ध विद्रोह तथा अतीत-गौरव-गान), रागात्मक पक्ष (देशानुराग की भावना) तथा उदार रूप (समग्र मानवता की कल्याण-भावना)—की अभिव्यक्ति ही युगाभिव्यक्ति है। विवेच्य काव्यधारा ने अपने युग को अभिव्यक्त किया है, इस तथ्य को झुठलाना सत्य के प्रति आंखें मूंद लेना है।

---

१. द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास), पृ० ३००

२. वाजपेयी, नन्ददुलारे: राष्ट्रीय साहित्य और अन्य निबंध (भूमिका), पृ०

३. "लोग अब यह समझने लग गये थे कि भारत में अंग्रेजी राज्य ईश्वर की एक देन है और लोग उसी उदासीन और अलिप्त-भाव से अपने काम-काज में लग गये थे, जोकि हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक खासियत है।"

१. शर्मा, डा० रामविलास : संस्कृति और साहित्य, पृ० ६५

रीतारानी वर्मा
द्वारा—डा० परमानन्द श्रीवास्तव,
गांधीनगर, गोरखपुर

निराला का आत्म-संघर्ष

आत्म-संघर्ष को कला या काव्य में कलाकार या कवि की रचना-प्रक्रिया का स्वाभाविक अंग कहा जा सकता है। समाज में बाह्य संघर्ष से कृतिकार का प्रभावित होना स्वाभाविक है। इस संघर्ष की प्रतिक्रिया से कवि में विशेष प्रकार की तेजस्विता और प्रखरता आती है। इस विशेषता को निराला की प्रतिभा का महत्व आँकने के क्रम में स्वीकार किया गया है, यह उचित ही है।[1] पर यहाँ स्पष्ट कर देना होगा कि निराला ने संघर्ष को दुहरे स्तर पर लिया है। इस दृष्टि से उनका काव्य रोचक अध्ययन का विषय है कि उसमें एक ही साथ बाह्य और अन्तःसंघर्ष की छाप मिलती है। यही अन्तःसंघर्ष कवि का आत्म-संघर्ष है। जो कवि शंका-मुक्त होंगे, अर्थात् समाज की तत्कालीन वास्तविकता और व्यवस्था को ज्यों का-त्यों स्वीकार कर लेंगे उनके कृतित्व में आत्म-संघर्ष का तत्व नहीं होगा।

यह विचारणीय है कि यदि एक अध्येता को निराला का सम्पूर्ण साहित्य उनका 'जीवन-वृत्त'[2] प्रतीत होता है तो दूसरे को निराला के साहित्य में व्यक्तित्व की बलि की ही चरितार्थता[3] दिखाई देती है। इसके मूल में बाह्य संघर्ष और अंतःसंघर्ष की संयुक्त चेतना ही है, जो निराला के काव्य की पहचान में सबसे अधिक सहायक हो सकती है। इसी दृष्टि से डा० रामविलास शर्मा ने मानसिक और बाह्य संघर्ष की गतिविधि दोनों से निराला के गहरे सम्पर्क का उल्लेख किया है।[1] निराला के काव्य की गुत्थियां जितनी वैयक्तिक हैं, उतनी ही सामाजिक और समीक्षकों को यह निर्णय करने में कठिनाई हो सकती है कि कवि ने अपनी चित्तवृत्ति को कहां केन्द्रित कर रखा है।[2]

---

१. 'संघर्ष की चोट खाने से उसमें तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता और सूक्ष्मता आती है। निरालाजी की प्रतिभा इसी प्रकार की थी।'—निराला की प्रतिभा और व्यक्तित्व—राजेन्द्र सिंह गौड़–निराला–सं० ओंकार शरद, पृ० ४२।

२. निराला—नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० ।

३. "व्यक्ति का आत्मदान (या बलिदान) ही तो कला है। निराला के साहित्य में व्यक्तित्व की बलि ही तो उसकी चरितार्थता बन गयी है। व्यक्तित्व के भीतर से निर्वैयक्तिक की साधना प्रौढ़ कलाकार की विशेषता है। क्योंकि उसका उत्कट व्यक्तिगत अनुभव ही सार्वभौम सत्य का रूप धारण करता है। वह प्रतीक बन जाता है, परन्तु उसकी व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता में कोई कमी नहीं आती।"
—निराला और नवजागरण—रामरतन भटनागर, पृ० ४।

---

१. "निराला एक ओर अपने मानसिक संघर्ष, शृंगार के आकर्षण और वेदना की तिक्तता को कविता में रच रहे थे दूसरी ओर यह बाह्य संसार की सामाजिक राजनीतिक गतिविधि को भी सतर्क दृष्टि से देख रहे थे।"—निराला की साहित्य साधना (प्र० सं०)—डा० रामविलास शर्मा, पृ० ११२।

२. "जाने कितनी वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियां अपनी अनगिन मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर चढ़ती-उतरती अनेक उद्गारों में उद्घाटित हुई हैं और यह निर्णय करना कठिन है कि कवि ने अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित कहां रखा।"—निराला का व्यक्तित्व :

काव्य की आलोचना में आत्म-संघर्ष के साथ ही आत्म-निर्वासन की चर्चा की जाती है। आत्म-निर्वासन और आत्म-संघर्ष दोनों किसी अर्थ में एक-दूसरे की पूरक स्थितियां हैं। दूसरे शब्दों में आत्म-संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरने वाला कवि आत्म-निर्वासित होने के लिए बाध्य है। निराला भी अंततः आत्म-निर्वासित हैं।

बाहर मैं कर दिया गया हूँ।
भीतर पर भर दिया गया हूँ।।
ऊपर वह बर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है
इसी तरह हर दिया गया हूँ।[1]

भीतर और बाहर का यह द्वन्द्व आत्म-संघर्ष की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आएगा। इस प्रक्रिया में स्थितियों का कोई सरलीकरण नहीं होता और कवि में निरन्तर एक प्रश्नाकुलता बनी रहती है।

निराला छायावाद-युग के अन्तर्गत अपनी प्रतिभा का विकास प्रदर्शित करनेवाले महत्वपूर्ण कवि हैं। छायावाद युग के कवियों ने जिस मूल्य-संघर्ष का अनुभव किया था, उसकी व्याख्या करते हुए कवि सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है—"सबसे कठिन और दुरूह अन्तःसंघर्ष उस नए मूल्य से संपर्क स्थापित करते समय करना पड़ा जो तब के उच्च वर्गों में तो था, लेकिन निम्न वर्गों में मध्ययुगीन धारणाओं के विश्वासों की धूमिलता उसमें व्याप्त रहने के कारण स्पष्ट अभिव्यक्ति न पा सकी थी।"[2] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अन्य छायावादी कवियों की तुलना में निराला ने सामाजिक संक्रमण के समय के पहले ही अनुभव किया था, ऐसा अनुभव करने वाले कवियों में वे अग्रणी बताये गए हैं। संक्रमण काल की वास्तविकता के संदर्भ में उन्होंने

एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि—डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव, युग कवि निराला : संपादक—डा० राममूर्ति शर्मा, पृ० १०।

१. बेला, पृ० ५।

२. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, पृ० ४०।

वर्तमान के परिवर्तन और भविष्य के परिवर्तन की संभावना को सीधे ही अनुभव किया। इस दृष्टि से निराला की भावस्थिति अपने आप में—"एक क्रांति थी जिसे निराला जैसे छायावादी युग के व्यक्तित्व ने आधुनिकता की सापेक्षता में देखा था।"[1] निराला की कविताओं में इस संघर्ष का प्रतिफल दिखाई देता है। व्यंग्य प्रधान कविताओं में निराला ने सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना की है। इस आलोचना से भी उन्होंने आत्म-संघर्ष के अपने अनुभव को तीखा बनाया है।

"दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही
हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म रहे नत सदा माथ
इस पथ पर मेरे कार्य सकल
हो भ्रष्ट शीत के से शतदल
कन्ये ! गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण।"[2]

जैसी पंक्तियां निराला के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास छिपाये हुए हैं और साथ ही वे सामाजिक स्थितियों की व्यंग्यपूर्ण आलोचना भी उपस्थित करती हैं। निराला के जीवन की तिक्तता भी—'जब कड़ी मारें पड़ीं दिल हिल गया'—जैसी पंक्तियों में प्रत्यक्ष है—जिसके आत्मपरक इतिहास की चर्चा डा० रामविलास शर्मा ने विस्तार से की है। निराला के अन्तःकरण को उन्हीं के अन्तर्द्वन्द्व-दर्पण में देखने की चेष्टा सहज ही की जा सकती है। उनके व्यक्तिगत जीवन का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि उनके अन्तःकरण में एक ही साथ 'रामसहाय तिवारी, तुलसीदास, महावीर और रामकृष्ण परमहंस विराजमान थे। यह अन्तःकरण उनके हर उच्छृंखल व्यवहार पर फटकारता था। पिता और पत्नी के प्रति कृतघ्नता के लिए उन्हें प्रताड़ित करता था। वह अन्तःकरण उनसे कहता था, यह अहंभाव गलत है। मनुष्य

---

१. 'नयी कविता के प्रतिमान'—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ० ६०।

२. अपरा—पृ० १५८।

को नम्र होना चाहिए···। संन्यासी का मन शांत होता है, उत्तेजित होना गलत है, शक्ति साधना में मिलती है। राजा बड़ा है, ऐश्वर्य है, वैभव है पर इन सब का प्रभाव किन पर पड़ता है—मूर्खों पर। ज्ञानी मनुष्य इन सब को मिथ्या मानता है···। निराला का अन्तःकरण उनकी राजसी इच्छाओं को पीछे ठेल देता। यदि दोनों में कोई कमजोर होता तो एक की विजय होती पर निराला के मन को विरोधी दिशाओं में खींचने वाली प्रेरणाएँ अत्यन्त बलशाली थीं इसलिए अन्तर्द्वन्द्व से छुटकारा न था।"[१] इसी क्रम में निराला के व्यक्तित्व और उसमें परिव्याप्त विषम अन्तर्द्वन्द्वों का चित्र उपस्थित करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"वह जिस दुनिया में रहते थे, उसमें हर तरह की विषमता चरम सीमा पर थी। राजमहल, जिनमें बंगाल के लाट आते थे, सिपाहियों के फुसलाये, कभी मिट्टी के घर जानवरों के रहने लायक भी नहीं, मद्यपान, वीरांगनायें, भोगविलास के अकूत साधन और संसारत्यागी बालब्रह्मचारी, दरिद्र नारायण के सेवक संन्यासी, विश्व वंदित, नोबेल पुरस्कार विजेता रवीन्द्रनाथ की असीम ख्याति और एक पतली 'अनामिका' लिए, विरोध से पीड़ित, हर साधन से वंचित निराला · यह वैषम्य उनके अन्तर्द्वन्द्व को तीव्र कर देता है।"[२]

विषमता के ये सभी सूत्र निराला के आत्म-मंथन में पहचाने जा सकते हैं। बहुत कुछ इन्होंने ही उनके विक्षुब्ध व्यक्तित्व को गठित किया। इसी अर्थ में कहा गया है कि "निराला के मन में बहुत सी ग्रंथियां, बहुत से तनाव, अनेक अन्तर्विरोध, अनेक निषेध भावनाएं, दमित कामनाएं एक दूसरे से उलझी हुई, सतत् क्रियाशील, उन्हें बेचैन करती रहती थीं।"[३]

मुख्य बात है—रचना में आत्म-संघर्ष का प्रतिफलन—क्योंकि ऐसे उदाहरण संभव हैं जहाँ कवि में आत्म-संघर्ष की चेतना हो पर वह कलाकृति अथवा काव्य कृति में प्रतिफलित न हो सकी हो। यह भी विचारणीय है कि क्या आत्म-संघर्ष का अभाव किसी कृति को व्यवस्थित स्पष्टता देता है? किसी रूप में कहा जा सकता है कि आत्म-संघर्ष के अभाव में ही कोई काव्य-व्यक्तित्व इतना सुलझा हुआ हो सकता है, जितना उदाहरण के लिए निराला के ही समकालीन कवियों में 'पंत' का है। यहां तक कि पंत जी ने युग के जो सामान्य प्रश्न अपने साहित्य में उठाये हैं, वे भी पंत के आत्म-संघर्ष की कोई सूचना नहीं देते। इस प्रकार प्रतिभा-विश्लेषण के इस आधार पर विचार किया जा सकता है, जो "निराला की प्रतिभा और व्यक्तित्व" नामक निबन्ध में राजेन्द्र सिंह गौड़ द्वारा उपस्थित किया गया है—"प्रतिभा दो प्रकार की होती है। एक प्रतिभा तो वह होती है जो जीवन की संगत और उत्फुल्ल परिस्थितियों में अपने विकास का मार्ग खोजती है और उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ स्वाभाविक ढंग से अपने मार्ग के कंकड़ों-पत्थरों को हटाती तथा अपने विकास को अनुकूल वातावरण का सृजन करती हुई अपनी चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। दूसरे प्रकार की प्रतिभा इससे सर्वथा भिन्न होती है। वह जीवन के असंगत और संघर्षशील परिस्थितियों में ही अपने विकास का मार्ग खोजती है।"[१] तुलनात्मक दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो पहले प्रकार की प्रतिभा पंत के कवि-व्यक्तित्व के उदाहरण के अनुरूप जान पड़ेगी और दूसरे प्रकार की प्रतिभा निराला की प्रतिभा के उदाहरण को चरितार्थ करती हुई जान पड़ेगी। प्रसिद्ध कवि-आलोचक टी० एस० इलियट ने अपनी महत्वपूर्ण व्याख्या में संकेत किया है कि वैयक्तिक अनुभूति को निर्वैयक्तिक आधार देना श्रेष्ठ कवि के लिए आवश्यक है परन्तु ऐसा करने में वही कवि समर्थ होगा जो व्यक्तित्व-संपन्न हो और अनुभव-संपन्न हो।[२]

---

१. निराला की साहित्य साधना (प्र० सं०) : डा० रामविलास शर्मा, पृ० ४७८।

२. वही, पृ० ४७८-७९।

३. वही, पृ० ४८१

---

१. निराला की प्रतिभा और व्यक्तित्व—राजेन्द्र सिंह गौड, निराला, सं० ओंकार शरद पृ० ४२

2. "Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion, it is not the expression of personality, but an escape from personality. But of course only those who have personality and emotions know

अवश्य ही निराला ऐसे ही अनुभव-संपन्न कवि थे, जो वैयक्तिक अनुभवों की बड़ी पूंजी लेकर उन्हें निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति देने में सफल हुए।

निराला की अड़तालीस वर्षों की काव्य-साधना को तीन आयामों में बांटा गया है।[1] पहला आयाम वह है जिसमें नव्य वेदांती और रोमांटिक भावभूमि का प्रसार है। दूसरा आयाम वह है जिसमें वस्तुन्मुखी दृष्टि का व्यापक प्रसार मिलता है। तीसरे आयाम में आत्म-तल्लीनता की कविताएं आती हैं। विचार किया जाए तो तीनों प्रकार की कविताओं में निराला गहरे स्तर पर आत्म संघर्ष से जुड़े हुए जान पड़ेंगे। यह आवश्यक है कि तीनों आयामों की रचनाओं में आत्मसंघर्ष का प्रतिफलन एक जैसा नहीं जान पड़ेगा। दूसरे शब्दों में उसकी गहनता भी सर्वत्र एक जैसी नहीं होगी। उदाहरण के लिए हम क्रमशः तीनों स्थितियों पर विचार कर सकते हैं। 'अनामिका' निराला के प्रारम्भिक संग्रहों में है। 'अनामिका' की प्रस्तावना के रूप में निराला की वे पंक्तियाँ हैं जो आत्मपरक कही जा सकती हैं। यहाँ कुछ अधिक न कहकर भी आत्म-संघर्ष की सूक्ष्म चेतना को कवि ने अभिव्यक्त कर दिया है—

"जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिए हाथ एक दूसरे का
अतिशय सुख के सागर में बहें।
मुदें पलक केवल देखें उर में
सुने सब कथा परिमल सुर में
जो चाहें, कहें वे कहें।
वहां एक दृष्टि से अशेष प्रणय
देख रहा है जग को निर्भय
दोनों उसकी दृढ़ लहरें सहें।"[2]

what it means to want to escape from these things".
'Tradition And Individual Talent'—T. S. Elliot., Modern Poetics Ed—Jams Scully., Page 68.

१. निराला और नवजागरण—डा० रामरतन भटनागर, पृ० ३७३।
२. अनामिका।

यह संकेत है कि अतिशय सुख की अवस्था में भी कवि आत्म-संघर्ष से मुक्त नहीं है। आत्म-साक्षात्कार को ही महत्त्व देने और दूसरों के कहने की न चिंता करने पर भी कवि आत्म-मंथन से जुड़ा रहता है। इसलिए दृढ़ लहरें सहने की चुनौती उसकी मानसिक चेतना पर छायी रहती है। 'केवल देखें उर में'—यह संकेत कवि के गहरे स्तर पर आत्मसाक्षात् करने की चेतना से जुड़ा हुआ है।

दूसरे आयाम की कविताओं में जहाँ निराला प्रत्यक्ष सामाजिक संक्रमण या संघर्ष की चर्चा करते हैं, वहां भी एक ऐसा 'पेंच' उनकी कविताओं में उपस्थित रहता है, जो संघर्ष को सब ओर से जोड़े रहता है। देखने में यह पेंच ऊपर जान पड़ता है, पर उसकी प्रतिक्रियायें भीतर भी काफी दूर तक हैं। एक ओर देश की स्थिति का यह व्यंग्य है।

'हमारे अपने हैं यहां बहुत छिपे लोग
मगर चूंकि अभी ढीला पोली है देश में
अखबार व्यापारियों की ही सम्पत्ति है
राजनीति कड़ी से कड़ी चल रही है
यहीं निचले वर्ग को उठाने का प्रेरक स्वर भी है—
ये सब जन मौन हैं, इन्हें देखते हुए
जब ये कुछ उठेंगे
और बड़े त्याग के निमित्त कमर बांधेंगे
आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर।[1]

एक दूसरी ही कविता में संकेत है कि समाज के 'पेंच' को अर्थात् सामाजिक संघर्ष के रहस्य को समझ सकने की दृष्टि निराला में विद्यमान थी—

"चूंकि हम किसान सभा के
भाईजी के मददगार
जमींदार ने गोली चलाई
पुलिस के हुक्म की तामीली की
ऐसा यह 'पेंच' है।"[2]

इसका अर्थ यह है कि निराला के लिए बाह्य संघर्ष की युक्तियाँ सरल नहीं हैं। वे वैसी ही नहीं हैं—जैसी दूसरों द्वारा चित्रित हुई हैं, या होती आयी हैं।

१. नये पत्ते—१०६
२. वही, पृ० ६३

तीसरे आयाम की आत्मपरक कविताओं में निराला का आत्म-संघर्ष अत्यंत सहज और जब-तब साकेतिक रूपों में भी व्यक्त हुआ है। विकास-क्रम के इस चरण में निराला कभी पिछली स्मृतियों के दंश से अपने को खोजना चाहते हैं। कुछ अधिक पहले की—

"मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सांध्य वेला।"
या
"स्नेह निर्झर बह गया है
रेत सा तन रह गया है
आम की वह डाल जो सूनी दिखी
कह रही है अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति में वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ, जीवन दह गया है।"

जैसी काव्य-पंक्तियाँ निराला के आत्म-संघर्ष को समझने में सहायक हो सकती हैं। वे निराला के मोह भंग, पीड़ा युक्त स्वाभिमान आदि को स्पष्ट करती हैं। बाद की कविताओं में निराला का आत्मकथ्य अधिक सांकेतिक बन पड़ा है। यहां बहुत कुछ मौन की ही भाषा है।

"परिमल के निर्झर जो बहे ये,
नयन खुले कहते ही रहे ये—
जग के निष्ठुर घात सहे ये,
बात न कुछ बन पायी,
कहां से कहां चली आयी।"[१]

इन पंक्तियों में यह सहज ही स्पष्ट है कि "आत्म-संघर्ष" से कवि ने सार्थक कृतार्थता प्राप्त की है।

उपर्युक्त आयामों में कवि की अन्तर्यात्रा को परखते हुए यदि यह निष्कर्ष निकाल लिया गया है[२] कि वह कहीं 'सबसे संपृक्त है, कहीं 'कुछ' से संपृक्त है और कहीं किसी से भी संपृक्त नहीं है—तो इसके पीछे केवल सरलीकरण का प्रयास छिपा हुआ है। हमारी दृष्टि में निराला की काव्य-यात्रा 'भीतर-बाहर' और 'केवल भीतर' 'बाहर-भीतर' इन्हीं वृत्तों में घिरी हुई है। जहाँ केवल भीतर का संघर्ष है वहां भी बाहर की उपस्थिति इस अर्थ में है कि बाहर की परिस्थितियों में स्मृतियों का संसार जीवित है।

१. आराधना, पृ० ९४
२. निराला और नवजागरण—रामरतन भटनागर पृ० ३७८

इसी प्रकार निराला की लंबी कविताओं में कवि के आत्म-संघर्ष की विस्तृत भूमिका मिलती है। राम की शक्ति-पूजा' और 'सरोज स्मृति' विशेष रूप से ऐसी कविताएं हैं जो निराला के व्यक्तित्व का सबसे सीधा साक्ष्य उपस्थित करती हैं। इनके आधार पर यदि कोई कहे कि निराला का काव्य 'एकालापी'[२] है, तो आश्चर्य नहीं। पर प्रकारांतर से ये कविताएं निराला के स्वय-मालाप जैसी जान पड़ती हैं :—

"जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु दम्य श्रांत
एक भी, अयुत—लक्ष में रहा जो दुराक्रांत
कल जुड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार हार।"[२]

ऐसा जान पड़ता है कि निराला ही इस कठिन समर में लड़ रहे हैं, वही पराजित हो रहे हैं और फिर भी लड़ने की व्याकुलता से भरे हुए हैं। निराला के संघर्ष का एक पूरा इतिहास मानो इसी कविता में चरितार्थ होता हुआ जान पड़ता है। राम के शंका ग्रस्त व्यक्तित्व में निराला के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट ही है—

'दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर बाहुओं पर वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएं ज्यों हों कहीं पार

क्रमशः राम के मन में बढ़ते हुए संदेह में निराला का ही संदेह सजीव हो उठा है—

"स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय।
रह-रह उठता जगजीवन में रावण-जय-भय।"

जिस प्रकार राम-सीता की स्मृति के दंश से पराजय की पीड़ा को और अधिक अनुभव करते हैं, वैसे ही निराला के मन पर अपनी जीवन-सहचरी की स्मृति का प्रभाव भी

१. वही पृ० ३७६
२. वही।

अंकित रहा है। अनेक सम्बद्ध-असम्बद्ध पंक्तियों में ऐसे चित्रों की खोज की जा सकती है। उदाहरण के लिए स्मृति का ऐसा ही "तीखा दंश निराला के इस गीत में उपस्थित है—

"यह घाट वही जिस पर हंस कर
वह कभी नहाती थी धंस कर
कंपते थे दोनों पांव बंधु
बांधो न नाव इस ठांव बंधु
पूछेगा सारा गांव बंधु।"[१]

'राम की शक्ति पूजा' में राम की भी मनोदशा सीता की स्मृति से कुछ-की-कुछ हो जाती है—

"फूटी स्मिति सीता ध्यान लीन राम के अधर
फिर विश्व विजय-भावना हृदय में आई भर।"

राम की पराजित मन:स्थितियों के बाद भी एक राम शेष रह जाता हैं जो पराजित नहीं होता, थकता नहीं। दूसरे शब्दों में निराला का भी एक ऐसा मन है जो न पराजित होता है और न थकता है—

"वह एक और मन रहा राम का जो न थका
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय।"

राम का मानसिक संघर्ष यदि निराला का ही मानसिक संघर्ष बन सका है तो यह कविता में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। कविता के समग्र ढांचे पर इसका प्रभाव दिखाई देता है। यदि 'सरोज स्मृति' और 'तुलसीदास' जैसी कविताएं आत्मकथात्मक जान पड़ती हैं तो राम की शक्ति पूजा का भी सन्दर्भ आत्मकथा को या कवि के आत्मचरित को कई स्तरों को छूता है।

'सरोज स्मृति' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ शोक गीति की संज्ञा दी गयी है।[२] जीवन के सर्वथा निजी प्रसंगों में कवि की समस्यायें उभर कर व्यक्त हुई हैं। एक ओर वास्तविक घरेलू जीवन और सामाजिक मान्यताओं के बीच की विषमता का उल्लेख है दूसरी ओर एक लेखक द्वारा अनुभव की हुई संपादकों की अवमानना का व्यंग्य है। अपनी निरर्थकता की पीड़ा भी है—

१. अर्चना, पृ० ५३।
२. क्रांतिकारी कवि निराला—बच्चन सिंह—पृ० १००।

"धन्ये मैं पिता निरर्थक था
कुछ भी तेरे हित न कर सका।"

यहीं तटस्थता का प्रश्न उठ सकता है जो सरोज के यौवनागम के वर्णन में देखी जा सकती है। यह कवि-पिता की दुर्लभ परीक्षा है और इसमें निराला सफल होते हैं—

"धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज तारुण्य सुधर
आयी, लावण्य भार थर-थर
कांपा, कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नववीणा पर।"

लोकरीति तोड़ते हुए निराला ने इसी कविता में अपने प्रखर साहस और स्वाभिमान का परिचय दिया है। इसी दृष्टि से कहा गया है कि "निराला के व्यक्तित्व की पूरी-पूरी झलक इस कविता से प्रकट हो जाती है।"[१]

'तुलसीदास' निराला की वह प्रसिद्ध लंबी कविता है, जिसमें निराला ने अपने व्यापक आत्मसंघर्ष को समाविष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपने संकल्प के अनुसार 'तुलसीदास' पर कविता लिखी। 'तुलसीदास' पर कविता लिखते हुए वे ऐसी ही कविता लिखना चाहते थे 'जो विश्व के इस महाकवि की महत्ता को पूरी तरह व्तक्त कर सके।'[२]

'तुलसीदास' में निराला ने जो तुलसी का युवा व्यक्तित्व कल्पित किया वह उनके व्यक्तित्व के अनुरूप भी था—

"युवकों में प्रमुख रत्नचेतन
समधीत शास्त्र काव्यालोचन

१. क्रांतिकारी कवि निराला—बच्चन सिंह, पृ० १०७।
२. जिस पर तुलसीदास ने स्वयं बहुत कम लिखा था, उनका आंतरिक संघर्ष जिसे निराला अपने जीवन में अच्छी तरह देख चुके थे, तुलसी की आसक्ति, रत्नावली के प्रति, मोहसाधना के प्रथम सोपान, फिर बाधाएँ, अन्त में पत्नी के उपदेश से ही ज्ञान-दृष्टि की प्राप्ति, वह ज्ञान जो भक्ति के नीचे छिपा है, जिसे केवल निराला ने देखा है, पिछले बारह वर्षों में धोखा है, निराला इस सब का चित्रण करेंगे।"—निराला की साहित्य साधना—रामविलास शर्मा, पृ० २७८ (प्रथम खण्ड)।

जो तुलसीदास, वही ब्राह्मण-कुल-दीपक,
आयत दृग पुष्ट देह, गत भय
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिमा का मंद स्मित परिचय संस्मारक ।"

एक स्थिति और दूसरी स्थिति का अन्तर्विरोध मानस को घेरे रहता है—अपना ही एक मन अपने ही मन को किस प्रकार छलता रहता है—इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति 'तुलसीदास' नामक काव्य में सम्भव हुई है—

"बंध भिन्न-भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर हुए विकल
पूजा में भी प्रतिरोध अनल है जलता
हो रहा भस्म अपना जीवन
चेतनाहीन फिर भी चेतन,
अपने ही मन को यों प्रतिमन है छलता ।"

जिस प्रकार राम की शक्तिपूजा में सीता की स्मृति-प्रतिमा अचानक अवतीर्ण हो जाती है उसी प्रकार तुलसीदास में रत्नावली का स्मृति-चित्र उभर आता है—

"उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ-तम की सी तारिका सुधर,
आ पड़ी दृष्टि में जीवन पर सुन्दरता
प्रेयसी प्राण संगिनी नाम
शुभ रत्नावली सरोज दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम ।"

इस प्रसंग को यहीं छोड़कर यदि हम आगे देखें तो करुणार्द्र तुलसीदास संस्कारों का वज्र द्वार तोड़ने के लिए व्याकुल जान पड़ते हैं ।[1]

'कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया-तम तरने को
करने को ज्ञानोधत प्रहार—
तोड़ने को विषम वज्र द्वार,
उमड़े, भारत का भ्रम अपार हरने को ।"

इसी कविता के अन्त में वह अवस्था वर्णित है जहां रत्नावली की दीप्ति के सामने तुलसीदास का सारा अज्ञान भस्म हो गया—

"इस ओर ज्ञान उस ओर ज्ञान
हो गया भस्म वह प्रथम भान ।"

पर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई उसमें स्वयं निराला मानो ऊपर ही ऊपर उठते चले गये । यह वह बिन्दु है जहां पुनः तुलसी और निराला का एक-दूसरे में घुला-मिला रूप दिखाई देता है—

"दृष्टि से भारती से बँध कर
कवि उठता हुआ चला ऊपर
केवल अम्बर केवल अम्बर फिर देखा,
धूमायमान वह धूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि तारा-हर
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा

यदि हम गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा दी हुई कला की निम्नलिखित व्याख्या के अनुसार निराला के आत्मसंघर्ष का अध्ययन करें तो 'मुक्तिबोध' और 'निराला' के आत्म-संघर्ष में बड़ी समानता मिलेगी—'कला न केवल एक आत्म-परक प्रयास है, वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतन्त्रता है । वह व्यक्ति सापेक्ष्य है, जीवन सापेक्ष्य वर्ग सापेक्ष्य है, युग सापेक्ष्य है, वह स्वतन्त्र भी है वह स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि जो भाव बीज कलाकार के अन्तःकरण में उदित होकर उसके सारे संवेदनों और अनुभवों द्वारा परिपोषित होकर विस्तार ग्रहण करके उसके अन्तर्मन को आच्छादित करते हुए अपनी अभिव्यक्ति के लक्ष्य की ओर विकास यात्रा करता है तो 'उस भाव-बीज की विकास यात्रा और उसकी अभिव्यक्ति अपने आप में विभिन्न और अनुकूल विपरीत तत्वों का एक गतिशील किन्तु संगीत-बद्ध और सामंजस्य-बद्ध रूप बन जाती है ।''[1] विचार किया जाय तो मुक्ति-

---

१. करुणाविगलित तुलसीदास की चेतनाशक्ति संस्कारों के वज्र कपाट तोड़ने को उद्यत है । तुलसीदास के मन की सबसे सक्षम कार्यवाही, कविता का क्लाइमेक्स विशेष परीक्षण के बिना ही सांचे में "ढला हुआ-सा यह बन्द कहीं निराला के अन्दर से उठकर उनकी आंखों के सामने आ गया ।"—निराला की साहित्य साधना—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २४८-७९ ।

१. नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र : मुक्तिबोध : पृ० १९ ।

बोध ने यहां कला को आत्मपरक मानते हुए आत्मस्थितियों के अतिक्रमण में उसकी सार्थकता बतायी है। वस्तुतः यही निराला का दुहरे स्वरों पर आत्मसंघर्ष है। एक ओर वह भीतर ही भीतर समाहित जान पड़ता है और दूसरी ओर बाह्य-संघर्ष की सीमाओं को छूता हुआ जान पड़ता है। मुक्तिबोध के आत्म-संघर्ष का विश्लेषण करते हुए डॉक्टर रामविलास शर्मा ने संकेत किया है कि एक ओर उनमें आत्मग्रस्तता थी और दुसरी ओर उनका आत्मसंवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा था।[1] स्वयं मुक्तिबोध ने तार-सप्तक के दूसरे संस्करण के वक्तव्य में इस स्थिति की ओर संकेत किया है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार मुक्तिबोध वाहर की दुनियाँ में जितनी ही मार खाते हैं उतना ही उनका भावुक मन रहस्यवाद की तरफ तेजी से दौड़ता है। विचार किया जाय तो निराला के स्वभाव में भी ऐसा ही अन्तर्विरोध मिलेगा। एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति और दूसरी ओर सटीक वस्तुगत चेतना। रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद मुक्तिबोध के आत्म-संवेदन को प्रभावित करते हैं तो भी इनमें कोई स्थूल समीकरण बन नहीं पाता। इसी प्रकार निराला में छायावाद, रहस्यवाद प्रगतिवाद, आध्यात्मिक चिंता इनमें कोई संगति नहीं दिखाई देती। दोनों कवियों की कविताएँ जीवन के वर्तमान और भविष्य का वैसा ही तीखा चित्रण उपस्थित करती हैं जिसमें कल्पना चरितार्थ होतीं हुई जान पड़ती है। विवेक और परम्परा का बोध यदि निराला को फिर भी व्यापक संवेदन की ओर उन्मुख किए रहता है तो वही मुक्तिबोध को भी आत्मग्रस्तता से वचाता है। मुक्तिबोध भी अनुभव करते हैं कि जिसे वह ढूंढ़ रहे हैं वह पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हुआ और निराला भी अपने से पूछते हैं 'क्या कहूँ आज, जो नहीं कही'। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' वे कविताएँ हैं जिनका ताना-बाना आत्म-संघर्ष के सूत्रों से ही तैयार किया गया है। रामविलास शर्मा ने उसी आधार पर लिखा है—'निराला ने लिखा था—वह रहा एक मन और राम का जो

१. मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता : डॉ० रामविलास शर्मा, धर्मयुग, पृ० २०।

२. वक्तव्य मुक्तिवोध : तार सप्तक, पृ०

न थका। यह मन निराला के पास था, मुक्तिबोध के पास भी।[1]" इस प्रकार निराला और मुक्तिबोध दोनों कवियों के आत्म-संघर्ष में कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अधिक सूक्ष्म समानता देखी जा सकती है।

जिस बिन्दु पर संघर्ष के बाह्य और आंतरिक दोनों रूप एक हो जाते हैं वहीं निराला के काव्य के एकालापी होने का आभास होता है वहीं उनका कवि व्यक्तित्व घूम-फिर कर 'एक ही सम पर आता है।"[2] एक ओर यदि निराला के अपने 'निजी' संघर्ष में जीवित रहने का अभ्यास है तो दूसरी ओर निराला का सरोकार बाह्य जगत में होने वाले संघर्ष से बना हुआ है। यही कारण है कि निराला के आत्म-संघर्ष का साहित्य 'एकालापी' होकर भी 'एकायामी' नहीं है, वह बहु आयामी है.[3] उसमें देश काल के संघर्ष का चित्र भी पहचाना जा सकता है।

निराला का आत्म-संघर्ष इस प्रकार आत्म-संकोच में नहीं आत्म-विस्तार में सहायक हुआ है। इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है कि निराला की कविताओं के चरित नायक जहाँ उनके व्यक्तित्व की उलझनों का आभास कराते हैं वही समय के सघर्ष में अपनी भूमिका भी निश्चित करते हैं। इसी दृष्टि से उनकी भिन्न प्रकार की कविताएँ संघर्ष के विभिन्न स्तरों को एक-दूसरे से सम्बद्ध करती हुई जान पड़ती हैं। सब मिलाकर निराला का आत्म-संघर्ष सीमित कवि का आत्म-सघर्ष नहीं है—वह व्यापक है अर्थात् अनुभव के अधिक व्यापकवृत्त

१. मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता—डॉ० रामविलास शर्मा—२८ दिसम्बर, १९६९ धर्मयुग—पृ० ४४।

२. निराला और नवजागरण—रामरतन भटनागर—पृ० ३७६।

.३ 'कवि के साथ सबसे बडी विडम्बना यह होती है कि एक साथ ही समय के तीनों आयामों को भोगता है।' कवि सत्य : एक दृष्टिकोण—लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता सुयुक्तांक ५-७, पृ० १२३।

को समेटता है।[1] इस दृष्टि से अज्ञेय से निराला की तुलना करने वाले डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी[2] जैसे आलोचक को निराशा ही हो सकती है क्योंकि अज्ञेय का साक्षात्कार एक क्षण . . एक द्वीपक हो सकता है।[3] निराला का नहीं। निराला निरन्तर प्रवाह में हैं, क्षण या द्वीप में सीमित नहीं हैं। इस दृष्टि से यदि कोई तुलना सम्भव हो सकती है तो केवल मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष से निराला के आत्म संघर्ष तुलना की जा सकती है।

---

१. 'संकोच को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं'–बेला पृ० ९३।
२. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—रामस्वरूप चतुर्वेदी—पृ० २।
३. "अज्ञेय का सत्य साक्षात्कार का एक क्षण है, एक द्वीप है जिसे हम अपने भीतर के जड़ और चेतन के संकलित संयोग से अनुभूत करते हैं।"
—लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस—विजयदेव नारायण साही—नयी कविता—संयुक्तांक ५-६ (१९६०-६१)।

———

डा० हर्षनारायण "नीरव"
हिन्दी विभाग,
ज० ने० स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
देवरी (सागर), मध्यप्रदेश।

नाट्य-तत्व : पुनः निर्धारण

चक्षु तथा श्रवण, रूप व अर्थ-बोध के स्थूल साधन तत्व हैं। साहित्य के जिस विधा का बोध मुख्यतः 'दृष्टि' के माध्यम से होता है उसे संस्कृत-आचार्यों ने 'दृश्य-काव्य' की संज्ञा दी है। इस साहित्य-विधा का वाचक 'नाट्य' शब्द है अथवा 'नाट्य-शब्द' दृश्य-काव्य का एक सर्वमान्य पारिभाषिक पर्याय है। अपने विकास एवं परम्परा में श्रव्य काव्य दृश्य-काव्य से भिन्न है किन्तु इस भिन्नता के बावजूद भी दृश्य और श्रव्य-काव्य परस्पर सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं। अर्थात् दृश्यकाव्य में श्रव्यत्व और श्रव्यकाव्य में दृश्यत्व भी किसी-न-किसी अंश में अवश्य समाहित रहता है। परन्तु दृश्य-काव्य में दृश्यत्व प्रधान हुआ करता है श्रव्यत्व गौण। उसी प्रकार, श्रव्य काव्य में श्रव्यत्व अधिक होता है और दृश्यत्व कम। माना जाता है कि साहित्य में श्रव्य-काव्य को पहले अस्तित्व मिला और बाद में श्रव्य-दृश्य उभय गुणों से सम्पन्न एक अन्य काव्य[१]—प्रकार की जन-आकांक्षा[२] ने दृश्यकाव्य को स्वतंत्र काव्य-रूप दिया और इस काव्य-रूप में समस्त ज्ञान, शिल्प, विद्या व कला की अन्तर्निहिति के कारण उसे श्रव्य-काव्य से श्रेष्ठ माना गया।

भारतीय-साहित्य में नाट्य (दृश्यकाव्य) के लिए 'रूप' और 'रूपक' शब्द भी प्रचलित हैं। वस्तुतः 'नाट्य' में दो प्रकार की क्रियायें होती हैं—पहली क्रिया, अनेक

१. संस्कृत साहित्य में 'काव्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया गया है। उसमें गद्य-पद्य दोनों शैलियों की रचनायें समाहित हैं।

२. नाट्यशास्त्र (भरत मुनि), १।११।

अन्यान्य वेश-भूषा धारण कर दृश्यमान क्रिया द्वारा मूल पात्रों' के बाह्य रूप-अनुकरण की है तथा दूसरी क्रिया उनकी अन्तः अवस्थाओं के अनुकृतिमूलक अभिव्यक्ति से सम्बंधित है। 'रूप' शब्द मूलतः नेत्रों के देखने का द्योतन करता है।"[१] अतः वह पहली क्रिया का बोधक है। ऋग्वेद-संहिता (६।४६।१८) में भी 'रूप' शब्द का अर्थ वेश-भूषा बदलने के रूप में मान्य है। नाट्य दर्पणकार ने भी—"रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि" द्वारा इसकी पुष्टि की है। दूसरी क्रिया 'रूपक' का धर्म है। इसीलिए दशरूपककार ने—नाट्य को दिखाई देने योग्य होने के कारण 'रूप' तथा मूल पात्रों की अवस्थाओं की अनुकृति होने के कारण 'रूपक' कहा है।[२] इस तरह 'नाट्य' अपनी दो भिन्न (अर्थात् रूप व अवस्था सम्बंधी) क्रियाओं के रूप में 'रूप' और 'रूपक' दोनों है। इस संगति के प्रभाववश एक आधुनिक आलोचक[३] ने 'रूप' व 'रूपक' को परस्पर पर्यायवाची होने की मान्यता दी है, जो सर्वथा भ्रामक है। वस्तुतः औचित्य यह है कि नाट्य अपनी बाह्य (रूपात्मक) तथा आन्तरीण (अवस्थानुकृत्यात्मक) दो विभिन्न क्रियाओं के रूप में 'रूप'

१. प्रो० ए० बी० कीथ—संस्कृत नाटक (भाषान्तरकार —डॉ० उदयभानुसिंह), पृ० ३१६।

२. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत् समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्।।
दशरूपकम् १ ७

३. " 'रूप' और 'रूपक' में केवल धातु और प्रत्यय का अन्तर है—'रूपक' शब्द 'रूप' में ण्वुल प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है।" —(डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत)

और 'रूपक' दोनों हैं किन्तु दो भिन्न-भिन्न क्रियाधर्मी होने के कारण 'रूप' और 'रूपक' परस्पर पर्यायवाची नहीं हैं।

दृश्य-काव्य के लिए नाट्य, रूप तथा रूपक के अलावा 'नाटक' शब्द भी प्रयोग में आ गया है और अब यही चल गया है। यों तो, संस्कृत-आचार्यों ने 'नाटक' को रूपक का एक प्रमुख भेद माना है और अन्यान्य भेदों में उसे अधिक महत्व दिया है। धनंजय ने उसमें रूपक के सम्पूर्ण लक्षणों और रसों के परिग्रह के कारण उसे सारे रूपकों का मूल कहा है।[१] पश्चिमी आलोचक प्रो० कीथ ने भी इसे पुष्ट किया है—"रूपक के सम्पूर्ण अभिजातोत्तर (Post classical) युग में नाटक नाट्य-कला के उच्चतर रूप का स्वाभाविक आदर्श रहा है।"[२] नाटक की इसी सर्वग्राहिणी प्रकृति के कारण हिन्दी तथा अनेक अन्यान्य भारतीय भाषाओं में 'नाटक' शब्द से दृश्य-काव्य के सभी भेदों का बोध हो जाता है। यद्यपि यह एक पारिभाषिक शब्द का अनुचित प्रयोग तो है, पर चल पड़ा है। वास्तव में अब नाटक शब्द एक ही अर्थ का बोधक नहीं रहा, वरन् दो भिन्न अर्थ देने लगा है : नाटक=रूपक और नाटक=रूपक-भेद।[३] साथ ही वह विश्व के विभिन्न भाषाओं के नाट्य-सिद्धान्तों एवं व्यापारों को भी आत्मसात कर विशिष्ट से सामान्य एवं व्यापक धर्मी बन गया है। अतः दृश्य-काव्य के सम्पूर्ण अर्थ-बोध एवं विशेषताओं को अपने में समाविष्ट कर लेने के कारण 'नाटक' को अब 'नाट्य' का पर्याय मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'नाट्य' को विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से पारिभाषित किया है। भरतमुनि के अनुसार भावात्मक ढंग से लोकवृत्तियों का अनुकरण नाट्य है।[४] धनंजय ने मूल पात्रों की अवस्थाओं की अभिनयात्मक अनुकृति को नाट्य कहा है।[१] नाट्यदर्पणकार ने रूपित अथवा अभिनीत की जानेवाली काव्य-विधा को रूप-नाटकादि माना है। यूनानी आचार्य अरस्तु ने त्रासदी (Tragedy) को नाटक का सर्वोत्कृष्ट प्रकार स्वीकार कर क्रियानुकृति (Imitation of an action) को नाटक कहा है जो गाम्भीर्य एवं आकार सम्पूर्णता से सम्पन्न हो तथा आह्लादकारी तत्वों से युक्त अलंकृत भाषा में नाटकीय ढंग से व्यक्त हो एवं दर्शकों में करुणा, भय आदि का संचार कर उनके भावों का विरेचन (Catharsis) करने में सक्षम हो। एक आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-समीक्षक व नाट्य-निर्देशक के अनुसार—नाटक कथोपकथन की शैली में गठित मानव-संघर्ष की एक कथा है जो सामाजिक के लिए रंगमंच से सम्भाषण व क्रिया (action) के साधनों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जिसमें नाटककार एक संतुलित आयाम में अपनी काल्पनिक उड़ान को सीमित एवं नियंत्रित कर कलात्मक ढंग से मानवीय क्रियाओं को अनेक आकार व मोड़ प्रदान करता है।[२] हिन्दी के समर्थ आलोचक डॉ० विजयकुमार शुक्ल ने प्रबन्धात्मकता के आधार पर नाटक को महाकाव्य व उपन्यास के साथ रखकर तुलनात्मक दृष्टि से—कथोपकथन से युक्त अभिनयात्मक शैली के माध्यम से प्रस्तुत प्रबन्ध-कथा को नाटक कहा है।

यदि विचारपूर्वक देखें तो उपर्युक्त परिभाषाओं के माध्यम से नाटक की विभिन्न भूमियों व दिशाओं की ओर अवश्य संकेत हो जाता है किन्तु किसी भी एक परिभाषा में उन सबका अन्तर्भाव नहीं मिलता। अतः मेरे अनुसार नाटक की परिभाषा इस प्रकार होगी — नाटक, श्रव्य गुण-समन्वित दृश्य प्रधान वह साहित्य-विधा है जिसमें सामान्य लोकवृतात्मक जीवन की समयानुप्राणित सम-विषम अवस्थाओं से निर्मित प्रबन्ध कथा छद्मवेश अभिनेताओं द्वारा कथोपकथनयुक्त अनुकृति-शैली के माध्यम से दर्शकों में विभिन्न रसात्मक बोध के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है।

साहित्य की अन्यान्य विधाओं की तरह नाट्य-रचना

---

१. दशरूपकम् ३।१

२. संस्कृत नाटक : प्रो० ए० बी० कीथ (भाषान्तरकार —डॉ० उदयभानुसिंह) पृ० २५७।

३. अभिनवनाट्यशास्त्र: पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ५७५।

४. नाट्यशास्त्र, १।१०७ व १।११२।

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं (दशरूपकम्)

२. Play Direction : John E. Dietrich, P. 3 &4.

के लिए भी अनेक उपादानों की अपेक्षा होती है, वे ही 'तत्व' कहलाते हैं। वे भाव-रूप से सम्पूर्ण रचना में व्याप्त रहते हैं। क्योंकि व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से 'तत्व' का यह पारिभाषिक अर्थ होता है—"तनोति सर्वम् इति तत् तस्य भावः तत्वम्।"[1] वस्तुतः रचना में तत्व-व्याप्ति साध्य-साधन उभय रूपात्मक होती है। अर्थात् रचना में रचनाकार का अपना अन्तर्निहित 'साध्य' और उसकी सिद्धि कराने वाले 'साधन' दोनों तत्वमूलक होते हैं। 'साध्य' तत्व सूक्ष्म तथा परोक्षमूलक और 'साधन' तत्व स्थूल व प्रत्यक्ष-मूलक होते हैं।

नाट्य तत्वों के सन्दर्भ में मुख्यतः दो प्रकार की विचारधारायें सामने आती हैं—पौर्वात्य (भारतीय) और पाश्चात्य। पाश्चात्य विचारधारा में 'नियो क्लासिज़्म' आन्दोलन के उपरान्त यूरोप के अलावा रूस तथा और बाद में अमरीका को भी प्रतिनिधित्व मिल गया। भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रवर्तन ईसा-पूर्व से ही मिलता है। भारतीय नाट्य-परम्परा के आदि प्रवर्तक भरत मुनि (ईसा पू०) तथा पश्चिमी परम्परा (जिसका आरम्भ यूनान से हुआ) के अरस्तु (३८४-३२२ ई० पू०) माने जाते हैं। तत्वों के सन्दर्भ में इन दोनों परम्पराओं की मान्यताओं को अलग-अलग देख लेना चाहिये।

भारतीय मत का प्रतिनिधित्व सर्वप्रथम प्रामाणिक एवं प्रमुख रूप से भरत मुनि ने किया, यद्यपि उनके पूर्व नाट्यशास्त्रियों में कृशाश्व तथा शिलालिन का उल्लेख पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' के 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु नट-सूत्रयोः' (४-३-११०) तथा 'कर्मन्द कृशाश्वदिनिः' (४-३-१११) सूत्रों द्वारा किया है। उनके पश्चात् कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नाट्याचार्यों का नामोल्लेख स्वयं भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया है—

> कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य-शाण्डिल्य धूर्तिलैः।
> एतच्छास्त्र प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥

किन्तु भरत के पूर्ववर्ती इन नाट्याचार्यों में से किसी का कोई नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसमें नाट्यकला का सम्यक् शास्त्रीय विवेचन किया गया हो। भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही इस सन्दर्भ का प्रथम प्रामाणिक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसलिए भरत को ही भारतीय परम्परा का आदि नाट्याचार्य स्वीकार किया जाता है। यद्यपि भरत मुनि ने पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों के शास्त्रीय ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं किन्तु भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में जहा-तहां उनके नाट्य-सिद्धान्तों का उल्लेख अवश्य किया है।

भरतमुनि ने एक श्लोक के माध्यम से नाट्याचार्य कोहल के अनुसार रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान व रंग इन एकादश नाट्यांगों की चर्चा की है।[1] "नाट्यशास्त्र' में एक स्थान पर स्वयं भरत के अनुसार केवल पांच नाट्यांगों का उल्लेख मिलता है—'अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पचांग नाट्यम्।' गीत तथा वाद्य के अतिरिक्त अभिनयत्रय' में (आहार्या को छोड़कर) शेष आंगिक वाचिक व सात्विक स्वीकृत हैं। भरत ने इन पंच नाट्यांगों का उल्लेख एक विशेष दृष्टि से एक विशेष सन्दर्भ में किया है, सामान्य दृष्टि से सामान्य सन्दर्भ में नहीं। सामान्य रूप से तो भरत ने मात्र 'वस्तु,' 'नेता' व 'रस' को नाट्य-तत्वों के रूप में मान्यता दी है। बाद में इसी मान्यता का सामान्य प्रचार आचार्य धनंजय ने किया है।[2] 'वस्तु' का तात्पर्य 'कथानक' से है और 'नेता' का 'पात्र' से तथा 'रस' के अन्तर्गत उसकी निष्पत्ति-प्रक्रिया में अभिनव, रंग-निर्देश, भाषा-शैली आदि सभी समाहित हैं।

भारतीय नाट्याचार्य-परम्परा की आधुनिक सरणि में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने नाट्य तत्वों के विषय में अपनी एक अलग मान्यता स्थिर कर ली है। इनके अनुसार रूपक को आकार देने वाले कथा, संवाद और रंग-निर्देश मात्र

---

१. अभिनवनाट्यशास्त्रः पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ११७

१. रसाभावा ह्यभिनयाधर्मी वृत्ति प्रवृत्तयः।
सिद्धि स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥
नाट्यशास्त्र ६।१०
टिप्पणी—"अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्व-मुच्यते। न तु भरते।"
—(अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' से)

२. "वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको वस्तु च द्विधा।"
दशरूपकम् १।११

तीन तत्व हैं।[१] पं० चतुर्वेदी ने 'कथा' तत्व के अन्तर्गत ही 'चरित्र' को डाल दिया है।

उपर्युक्त आचार्यों की मत-समीक्षा के पूर्व पाश्चात्य नाट्य-परम्परा में भी तत्वों की स्थिति देख लेना चाहिए। भारतीय परम्परा की तरह यह परम्परा भी अधिक पुरानी है और उसमें नाट्य-कला के रचना, अभिनय तथा सिद्धान्त तीनों अंग समाविष्ट हैं। प्रारम्भ में, यह परम्परा निश्चय ही एक अपने ढंग की थी जो यूनान व रोम में ईसा पूर्व पांच सौ वर्ष से लेकर ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी अर्थात् पूरे एक हजार वर्ष तक अपने यथावत् रूप में सुरक्षित रही। किन्तु दुर्भाग्यवश जब प्राचीन रोमन सत्ता यहूदी ईसाई धर्म से टकराई तो उसके कारण पूरे यूरोप में ५वीं से १५वीं शताब्दी तक अस्त-व्यस्तता, अशान्ति एवं संघर्षपूर्ण स्थितियों के कारण अंधकार-युग (Dark age) व्याप्त रहा। फलतः इस युग में वहा की नाट्य-परम्परा उपेक्षित होकर अस्त-व्यस्त एव लुप्तप्राय हो चली। परन्तु जब १६वीं शताब्दी से रिनेसाँ अथवा 'पुनर्जागरण काल' आया तब से पुनः यूनानी तथा रोमन नाटकों का परिचय नये ढंग से विभिन्न भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से मिलने लगा। नये मौलिक नाटकों की रचना भी होने लगी। किन्तु पुनर्जागरण-काल से, अब यह जो रचना व सिद्धान्त उभय दृष्टियों से नाट्य-कला का उन्नयन आरम्भ हुआ उसमें दो स्कूल बने। एक स्कूल अरस्तु की ही नाट्य-परम्परा को समर्थन देने लगा तथा दूसरा स्कूल उनका था जो स्वच्छन्दतावादी ढंग से समयानुरूप परिवर्तन ला रहे थे। पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्त के परिवर्तित होते प्रतिमानों को देखने के पूर्व अरस्तु के नाट्य-सिद्धान्तों को समझ लेना अनिवार्य है। पश्चिमी नाट्य-कला के ये प्राचीन व नवीन दो रूप हैं जिसका विभाजन मध्यस्थ होकर अंधकार-युग (५वीं-१५वीं शताब्दी तक) ने किया है। अरस्तु का समकालीन पश्चिमी नाट्य साहित्य दुःखान्त व सुखान्त (Tragedy and Comedy) दो रूपों में लिखा जाता रहा। अरस्तु ने कॉमदी (प्रहसन) में निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण होने के कारण उसे 'त्रासदी' से हेय माना। उसने त्रासदी को महाकाव्य से भी श्रेष्ठ कहा है क्योंकि "महाकाव्य के सभी तत्व त्रासदी में वर्तमान रहते हैं पर त्रासदी के सम्पूर्ण तत्व महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होते।"[१] अतः अरस्तु ने नाट्य-सिद्धान्त की सम्यक् विवेचना त्रासदी को ही दृष्टि में रखकर अपने 'काव्य-शास्त्र' (Poetics) में की है। अरस्तु की मान्यता है कि त्रासदी के अनिवार्यतः छः तत्व होते हैं—कथानक (प्लाट), चरित्र (करेक्टर), वर्णन-शैली (डिक्शन), विचार (थाट), दृश्य (स्पेटेकिल) तथा गीत (सांग)। कथोपकथन-संवाद को उसने 'वर्णन-शैली' में समाहित कर दिया है। 'उद्देश्य' का भाव उसके 'विचार-तत्व' में गर्भित है। 'दृश्य' से उसका आशय रंग-निर्देशन से है। 'वर्णन-शैली' को उसने 'पद-रचना' भी कहा है। अरस्तु ने नाटक के विभिन्न प्रयोजनों को ध्यान में रखकर कथित तत्वों को मान्यता दी है। इनमें से दो (कथानक व चरित्र) अनुकरण के माध्यम हैं, वर्णन-शैली या पद-रचना अनुकरण की विधि और शेष तीन तत्व (विचार, दृश्य व गीत) अनुकरण के विषय हैं।[२] इन तत्वों में 'कथानक' को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। अरस्तु की दृष्टि में कथानक त्रासदी की आत्मा है। अतः उसने 'कथानक' पर विशद् रूप से विचार करते हुए उसके समुचित संगठन के लिए उसके आयाम में अन्विति, सम्भाव्यता, स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, यातनादृश्य आदि की प्रस्तुति अनिवार्य माना है। अरस्तु ने 'सम्भाव्यता' का अर्थ सम्भव घटनाओं से लिया है। 'स्थिति-विपर्यय' का अर्थ परिस्थितियों में परिवर्तन से है। 'अज्ञान में ज्ञान की परिणति का भाव' अभिज्ञान है। उत्पीड़क व्यापार 'यातना-दृश्य' के भावबोधक हैं।

ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि 'अंधकार-युग' के बाद पश्चिमी नाट्य-साहित्य में फिर से चेतना आई। इस चेतना में दो दिशायें थीं। एक दिशा में पुनः अरस्तु के

१. "कथासंवाद रंगनिर्देशात्मकं रूपकायम्।"
(अभिनवनाट्यशास्त्र, पृ० ११५)

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा
—सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० २८।

२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा
—सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, पृ० २६।

नाट्य सिद्धान्तों का क्लासिकीय आन्दोलन इटली से आरम्भ होकर फ्रांस तथा इंग्लैण्ड तक पहुँचा। उस आन्दोलन में अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तों का पुनः प्रतिपादन आरम्भ हुआ। दूसरी दिशा में अरस्तु के नाट्य-सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन भी होने लगे। पहले अरस्तु त्रासदी व कामदी को भिन्न-भिन्न निरूपित कर कामदी को हेय सिद्ध कर चुका था। इस सन्दर्भ में परिवर्तन यह हुआ कि कामदी को भी समान महत्व देकर दुःखान्त और सुखान्त दोनों स्थितियों को एक में ही समायोजित किया जाने लगा। यह काम सबसे पहले शेक्सपियर ने अपने नाटकों के माध्यम से किया। वस्तुतः इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने अरस्तु के नाट्य-सिद्धान्तों के क्लासिकीय आन्दोलन को एक आदर्श रूप देने का प्रयत्न किया जिसे 'नियो क्लासिसिज्म' नाम दिया गया। अरस्तु के प्रबल समर्थक सर फिलिप सिडनी ने इसकी कड़ी आलोचना की। बेन जान्सन तथा लेंसिग ने भी इस आलोचना को बल प्रदान किया।

इस नव क्लासिकीय आन्दोलन से पाश्चात्य नाट्य-साहित्य को अब आगे स्वतंत्रतापूर्वक विकास के लिए फिर रास्ता मिल गया। जैसे-जैसे मानव-जीवन में नयी-नयी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, वैसे-ही-वैसे अन्य विधाओं की तरह नाट्य-साहित्य में भी बड़ी तेजी से नये-नये परिवेश आये। १८वीं शताब्दी में इस नूतन परिवेश को 'स्वच्छन्दतावाद' का नाम दिया गया। शेक्सपियर के उपरान्त मोलियर, नार्वे निवासी इब्सन, रूसी साहित्यकार चेखव, बर्नार्ड शा आदि इसी स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति के नाटककार के रूप में सामने आये।

अपने युग के सबसे सच्चा व्यंग्यकार मोलियर ने कामदी को सबसे अधिक रचनात्मक समर्थन दिया। अपने एक पात्र के मुख से उसने यह खुली मान्यता दी कि "हम मनुष्य के छोटे-छोटे कार्यों में हास्य का तत्व देखें और मानव की दुर्बलताओं को स्टेज पर इस प्रकार प्रदर्शित करें कि दर्शक को क्रोध न आकर हँसी आये।"[१] आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों में इब्सन प्रथम यथार्थवादी नाटककार माना जाता है जिसने मनुष्य की पारिबारिक जीवन सम्बंधी समस्याओ को यथावत् रूप में उभारने का प्रयत्न किया! इब्सन का शिष्य चेखव पिष्टपेषण के विरुद्ध यह आग्रह लेकर आया कि 'आधुनिक युग में नया फार्मूला चाहिए, जो हमारी नई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।" इब्सन के दूसरे शिष्य बर्नार्ड शा ने अपने नाटकों में पात्र-जीवन तथा घटनाओं के यथार्थ पक्ष को लिया। साथ ही मनोवैज्ञानिक फ्रायड आदि से प्रभावित होकर अपने पात्रों के भीतर यौन (सैक्स) सम्बन्धी गुत्थियों को खोलकर मनुष्य के अन्तश्चेतन का भी रहस्योद्घाटन किया। १९वीं सदी के फ्रांस में नाटक-रचना के लिए सार्सी विस्मयकारी घटनाओं की ओर देखने लगे। वहीं जोला ने यथार्थवाद के शल्य में सामाजिक समस्याओं का पोस्टमार्टम करने लगे।

पुनर्जागरण-काल से अब तक, यह जो पाश्चात्य नाट्य-रचना का विकास प्रस्तुत किया गया है उसमें समयानुकूल परिवर्तित अनेक स्थितियों का परिचय मिलता है। नाटक के शास्त्रीय पक्ष में इसका प्रभाव यह पड़ा कि नाट्याचार्यों में नाट्य-तत्वों के विषय में भी बदलती स्थितियों एवं मान्यताओं के अनुसार अनेक धारणायें बनीं। किन्तु इन आचार्यों में कोई एक ऐसा महान् आचार्य नहीं सिद्ध हुआ जो सम्पूर्ण आधुनिक पाश्चात्य नाटक-शास्त्र के लिए उतना ही मौलिक एवं महत्वपूर्ण कार्य करे जैसा आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व अरस्तु ने यूनानी नाट्य-शास्त्र के लिए किया था।[१] किन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं कि आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-क्षेत्र में यदि किसी एक विशेष नाट्य-शास्त्री ने अरस्तु की भाँति मौलिक व महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया तो इस समग्र युग ने समवेत रूप से भी कुछ न किया हो। अवश्य किया है। आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में विभिन्न धारणाओं का निष्कर्ष लेकर जो नाट्य-तत्व विषयक एक मूल धारणा बनी उसके अनुसार नाटक के लिए अब ये छः तत्व निर्धारित किए गए हैं—१. वस्तु, २. पात्र, ३. संवाद या कथोपकथन, ४. देश-काल, ५. शैली और ६. उद्देश्य।

---

१. भारतीय नाट्य-साहित्य—सम्पादक —डॉ० नगेन्द्र, पृ० १४८।

१. वही—पृ० १३६।

अस्तु, अब पूर्व तथा पश्चिम के प्राचीन व आधुनिक सभी नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार ऊपर प्रस्तावित नाट्य-तत्वों का विश्लेषण करके यह देख लेना चाहिए कि उनमें से किस-किस तत्व का स्वतंत्र एवं मौलिक महत्व है और कौन-कौन से तत्व किस-किस तत्व के अन्तर्गत अपना अधीनस्थ मूल भाव रखते हैं।

आचार्य कोहल द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-तत्वों में भाव, धर्मी, रस व अभिनय को मौलिक एवं स्वतंत्र तत्व कहा जायगा और भाव में वृत्ति व प्रवृत्ति को; रस में सिद्धि को अन्तर्भूत किया जा सकता है। स्वर, वाद्य, गान व रंग को किसी भी एक धर्म में बांधा जा सकता है। 'धर्मी' पात्र का पर्याय है। आचार्य धनंजय द्वारा प्रतिपादित भरत मुनि के सर्वविश्रुत कुल तीनों नाट्य-तत्वों—वस्तु, नेता व रस को स्वतंत्र तत्व माना जायगा। आधुनिक आलोचक पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'पात्र' को कथा का कारण-रूप अवयव मानकर उसी (कथा) के अधीनस्थ कर दिया है। चतुर्वेदी जी की मान्यता है कि "कथा कार्य है घटना और पात्र कारण है। इसलिए कथा ही मूल तत्व है।" वस्तुतः यह मान्यता तथ्यपूर्ण नहीं है क्योंकि बिना कारण के कार्य का कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु बिना पात्र के भी कथा अस्तित्व पा जाती है। अतः कथा और पात्र दोनों को अलग-अलग मूल तत्वों के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। 'उद्देश्य' तो चतुर्वेदी जी की दृष्टि में 'साध्य' होने के कारण कोई तत्व ही नहीं है। जबकि अधिकांश नाटकों में उद्देश्य की प्रत्यक्ष घटनात्मक परिणति भी हुआ करती है। अरस्तु द्वारा निर्धारित कुल छः नाट्य-तत्वों में 'दृश्य' व 'गीत' को कथा-वस्तु में रखा जा सकता है। आधुनिक पाश्चात्य नाट्यालोचकों द्वारा निर्धारित नाट्य-तत्वों में अभिनय और रंग निर्देश को स्थान नहीं दिया गया है, जबकि नाटक को रंगमंच से जोड़ने का काम यही दो तत्व करते हैं।

अब, यदि ऊपर के नाट्य-तत्व सम्बंधी पूरे ऊहापोह का मन्थन किया जाय तो उसका सारभूत निष्कर्ष निकलता है कि नाट्य-रचना के लिए कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन-संवाद, अभिनय, भाषा, रंग-निर्देश, देश-काल या वातावरण उद्देश्य (रस-बोध) आदि अनेक तत्व अपेक्षित हैं। किन्तु उपर्युक्त किसी भी आचार्य की नाट्य-तत्व सम्बन्धी मान्यता में शास्त्रीय ढंग से इन सभी आवश्यक तत्वों की प्रस्तुति नहीं है।

नाट्य-कला के सम्पूर्ण परिवेश व आयाम को दृष्टि में रखकर उसके तत्वों को शास्त्रीय ढंग से निर्धारित करने के पूर्व यह अनिवार्य है कि उनके स्वरूप एवं अस्तित्वमूलक स्थिति को समझ लिया जाए। सामान्यतः तत्व दो प्रकार के होते हैं—साध्य और साधन। नाटक का साध्य तत्व एकमात्र रस-बोध (उद्देश्य) है। साधन तत्वों के अन्तर्गत कथानक, पात्र, अभिनय, देशकाल-वातावरण, रंग-निर्देश, कथोपकथन-संवाद, भाषा आदि सम्मिलित हैं। इनमें कथानक तथा 'पात्र' स्वतंत्र महत्व एवं अस्तित्व के तत्व हैं। 'अभिनय' तत्व पात्रों का विषय है अतः उसे पात्रों में ही निहित अधीनस्थ तत्व मानना चाहिए। संस्कृत के नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में अभिनय के चार प्रकार—आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्या स्वीकृत हैं और उन्हें एक-दूसरे से भिन्न स्वतंत्र महत्व का निरूपित किया गया है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सात्विक और आहार्या ये दो अभिनय-प्रकार 'अंग' से ही सम्बंध रखते हैं अतः उन्हें स्वतंत्र महत्व न देकर आंगिक अभिनय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेना उचित होगा तथा 'वाचिक' को आंगिक से सर्वथा निरपेक्ष रखकर उसी के अधीन कथोपकथन, संवाद व भाषा को कर देना चाहिए क्योंकि ये सब 'वाक्' से सम्बन्धित वाचिक के ही अवयव हैं। अब रही बात देश-काल-वातावरण, रंग-निर्देश और (एकांकी के सन्दर्भ में) स्थानीय रंग व संकलनत्रय की। नाटक में इन तत्वों की प्रस्तुति सामयिक युग-बोध के अनुरूप हुआ करती है अर्थात् जैसा युग होता है उसी प्रकार के वातावरण तथा रंग-निर्देश नाटक में स्थान पाते हैं तथा एकाँकी में स्थानीय रंग व संकलनत्रय को अभिव्यक्ति मिलती है।

इस प्रकार, मेरे अनुसार साधन और साध्य दोनों मिलाकर नाटक के कुल चार ही स्वतंत्र महत्व एवं अस्तित्व वाले तत्व सिद्ध हुए—१. कथा-वस्तु, २. पात्र या चरित्र, ३. युग-बोध तथा ४. रस-बोध।

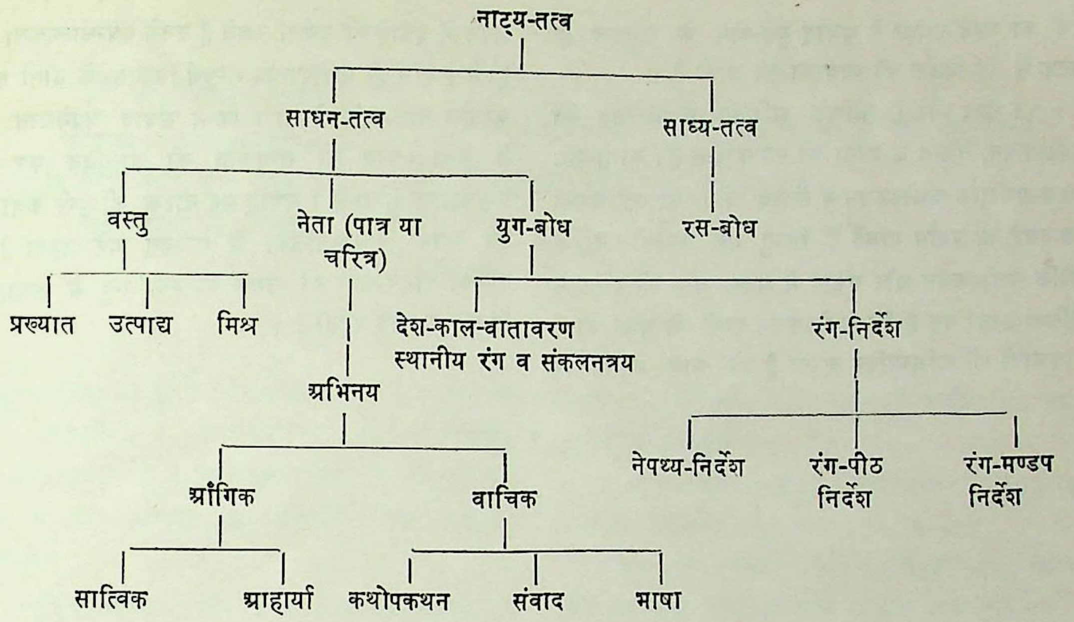

'युग-बोध' को अलग से थोड़ा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मनीषियों ने कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध माना है। अर्थात् बिना 'कारण' के 'कार्य' की उद्भावना नहीं होती। इस 'कारण' का ही पक्ष लेकर 'युग-बोध' साहित्य में आता है और जब वह आता है तभी साहित्यकार की निद्रा भंग होती है। साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम में जो रूपान्तर होता जाता है वह विभिन्न युग-बोधों के ही कारण होता है। साहित्य-सृजन के वर्तमान में जो कभी-कभी अतीत भी चला आता है, वह सामयिक युग-बोध के ही रंग में छिप कर आता है और जब उस पर से वह युग-बोध का रंग उतर जाता है तभी वह फिर जहाँ का तहाँ चला जाता है। हर युग-बोध का अपना अलग रंग होता है इसलिए साहित्य के महासमुद्र में समय-समय पर विलीन हुए युग-बोध स्पष्ट पहचान लिए जाते हैं। अपने शाब्दिक रूप में युग-बोध का अर्थ है "युग का ज्ञान"। किन्तु यह 'युग-बोध' की शाब्दिक परिभाषा है। वस्तुतः 'युग-बोध' की अर्थ बोधक भावगर्भित परिभाषा इस प्रकार होगी: विभिन्न मानव-मनोवृत्तियों के सार्वदेशिक जन्म, प्रसार और विकास के परिणामस्वरूप स्पष्ट देशकाल के पटल पर उभरी हुई विविध परिस्थितियों की ठहरी हुई प्रतिक्रियाओं के संश्लिष्ट आभास का नाम 'युग-बोध' है। यह तो युग-बोध की एक सामान्य परिभाषा हुई किन्तु नाट्य-सन्दर्भ में 'युग-बोध' की परिभाषा इससे भिन्न (पर सर्वथा निरपेक्ष नहीं), मेरे अनुसार इस प्रकार होगी—नाट्य-परिप्रेक्ष्य में वह तात्विक प्रतिमान युग-बोध कहलाता है जो स्थानीय रंग एवं संकलनत्रय के वृत्ति भाव से सम्पन्न एक विशिष्ट देश-काल वातावरण के तत्वों से सृष्ट होता है जिसके अनुकूल नाटक के रंगमंचीय धर्म की व्यवस्था की जाती है। यह स्पष्ट कर दिया जाय कि केवल एकांकी के सन्दर्भ में स्थानीय रंग एवं संकलनत्रय के वृत्ति-भाव को सम्पन्नता अनिवार्य होती है। शेष में नहीं। कुछ व्यक्ति 'स्थानीय रंग' को नाट्य-वृत्तीय 'देश' के अन्तर्गत ही स्वीकार करना चाहेंगे किन्तु यह जान लेना चाहिए कि नाट्य-वृत्तीय 'देश' और 'स्थानीय रंग' में एक खास भेद है। जैसे – नाट्य-रचना में 'देश' अपने आप में पूर्ण व्याप्ति का भाव रखता है। उसमें साँगोपूर्णता होती है। किन्तु 'स्थानीय रंग' 'देश' की पूर्ण व्याप्ति या सांगोपूर्णता में एक क्षेत्रीय इकाई का अस्तित्व रखता है अर्थात् देश के अन्तर्गत 'स्थानीय रंग' एक आंचलिक भाव है और इन्हीं आंचलिक भावों या स्थानीय रंगों से 'देश' को एक पूर्ण व्याप्ति उपलब्ध होती है। 'युग-बोध' के अन्तर्गत देश-काल-वातावरण का अस्तित्व उसके 'अनुपूरक अवयव' के रूप में है तथा रंग-निर्देश 'अनुकूल

तत्व' का भाव रखता है अर्थात् युग-बोध के अनुकूल ही नाटक में रंग-निर्देश की व्यवस्था की जाती है।

एक बात और। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत मैंने कथोपकथन, संवाद व भाषा को स्थान दिया है। सामान्यतः नाट्य-समीक्षक कथोपकथन व संवाद दोनों को एक अथवा एक-दूसरे का पर्याय मानते हैं किन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि कथोपकथन और संवाद में अन्तः पक्ष की दृष्टि से मौलिक अन्तर यह है कि कथोपकथन पात्रों के मुक्त भावों व विचारों की अभिव्यक्ति करता है जो भाव व विचार अपने में इकाई की पूर्णता रखते हैं उनमें प्रबन्धात्मकता नहीं होती। साथ ही कथोपकथन सम्पूर्ण विकास के दोनों छोरों को एक साथ नहीं जोड़ता। किन्तु 'संवाद' अपनेअन्तः धर्म में कथा-विकास की सम्पूर्णता को समाहित कर पूर्ण प्रबन्धात्मक होता है। अर्थात् वह नाटक की पूरी कथा का दम अपनी श्वास-नलिका में शाश्वत् भरे रहता है जो नलिका नाट्य-कथा को उसके आरम्भ-बिन्दु से समाहार-बिन्दु तक जोड़े रहती है।

——: ० :——

श्री चन्द्रकिशोर यादव
शोधप्रज्ञ—उपप्रधानाध्यापक
उच्च विद्यालय खैरा, डा० पतसौरी
खैरा, भागलपुर (बिहार)

रामचरित मानस के उत्तरकांड के धार्मिक बिम्ब-विधान की रूपरेखा

बिम्ब इमेज़ का हिन्दी पर्यायवाची शब्द बिम्ब कल्पना या स्मृति में चाक्षुष अनिवार्यता से शून्य तथा बौद्धिक एवं रागात्मक तत्वों से संयुत एक प्रकार की प्रतिकृति है। इसमें आँतरिक सादृश्य का अभिव्यंजन एवं सम्मूर्त्तन होता है।

धार्मिक बिम्ब—विधि-विधान, ध्यान-उपासना एवं भजन-कीर्त्तनादि पर अवस्थित मूर्त्त और दृष्ट प्रत्यंकन ही धार्मिक बिम्ब है। यह एक ओर ब्रह्माण्डपरक बिम्ब से अलग है। धार्मिक बिम्ब लौकिक होते हैं और ब्रह्माण्डपरक बिम्ब अलौकिक। धार्मिक बिम्ब जनमानस में रसे-बसे रहते हैं और ब्रह्माण्डपरक बिम्ब श्रुति, उपनिषद, पुराण, कथा आदि पर आधारित चमत्कारी। यह बिम्ब मिथकीय बिम्ब से भी अलग होता है। मिथकीय बिम्ब अधर्म और धर्म दोनों का हो सकता है, वह पाप का हो सकता है और पुण्य का भी। विशिष्टता मिथकीय बिम्ब पौराणिक अथवा कल्पित कथाओं के प्रतीक चरित्र होते हैं जो पुरावृत्त के मिथ्या-कल्प होते हैं लेकिन उनकी वास्तविक स्थिति आलोचनाशक्ति से शून्य होती है। वे प्रतीक चरित्र अति प्राकृतिक और अति मानवीय कार्य सम्पन्न करते हैं।

'रामचरितमानस' एक ऐसा धर्मप्रमुख उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें भारतीय वाङ्मय के आचरण के अनुरूप प्रमुख मान्यताओं पर आधृत अगणित धार्मिक बिम्ब उरेहे गए हैं, जो कहीं दृष्टान्त, कहीं मिथक और कहीं ब्रह्माण्ड-परक भावों से आवेष्टित हैं। तुलसी की बिम्ब-कला मूल रूप में 'राम पद कमल लीन' स्थिति में गाढ़ी हरिभक्ति की रेखाओं से भास्कर है।

वर्गीकरण की दृष्टियाँ

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में उद्रिक्त धार्मिक बिम्बों के वर्गीकरण और विश्लेषण अधोलिखित चार दृष्टियों से सम्भव हैं—

१. विषय-दृष्टि—अर्थात् कितने प्रकार के विषयों को बिम्बीकृत किया गया है; यथा :

(क) भक्त-भगवान् (ख) प्रभु-संयोग—प्रभु-वियोग (ग) संत-असंत (घ) दुष्टोदय से कष्ट एवं संतोदय से प्रसन्नता (ङ) आयुर्वेद (च) लोक और (छ) पुराण इत्यादि। इस दृष्टि से विवेचन करने पर नमनपरक, भया-कुलतापरक, उद्धारक, अंधकारपरक एवं प्रकाशपरक बिम्बों के विवेचन सम्मुख आयेंगे।

२. जीव, प्राकृतिक उपादान एवं अन्य उपकरणों के सहारे बिम्बोदय—अर्थात् मसक (मच्छड़), उलूक, कैरव, चकोर, माया कटक, मोह-कलिल एवं सात्विक श्रद्धा धेनु आदि।

३. कला-दृष्टि—अर्थात् मानसकार ने बिम्ब को किन-किन प्रकारों से मूर्त्त किया है; यथा सादृश्यमूलक अलंकार विसादृश्य मूलक अलंकार, विशेषण आदि। इस विशेषण में भी रंगमूलक, संख्यामूलक एवं समास विधायक इसके प्रकार-भेद हैं। इस दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण में शब्द-शक्ति का चमत्कार अपने वैविध्यपूर्ण उदाहरणों के मध्य फूटता हुआ दिखाया जायगा जिसमें लक्षण एवं व्यञ्जना के अन्तर्गत कल्पनाशील बिम्ब उरेहे गए हैं।

४. प्रभाव की दृष्टि से—अर्थात् पाठकीय दृष्टि से प्रभाव को देखते हुए बिम्ब के निम्नांकित सम्भावित वर्गीकरण के प्रति ध्यान केन्द्रित रखना होगा—

दह्यमान, कोमल, भयावह आदि आदि।

[विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् उद्धरण की पंक्ति सदैव नीचे रहेगी।]

तुलसी की कारयित्री प्रतिभा अपने बिम्ब-विधान गठन अद्भुत है। विषय की दृष्टि से एक प्रकार के उपदेश की तुला पर इनके धार्मिक बिम्ब नपे-तुले होकर लोकोत्तर हितकारी प्रमाणित होते हैं। सन्त-असन्त पार्थक कवि की विषय-दृष्टि बनकर कुठार और चन्दन का बिम्ब उत्थापित करते हैं जिसमें प्रभाव की दृष्टि से विचार करने पर अवगुण त्यागकर गुणी बनने का मार्मिक आग्रह किया गया है। ध्यातव्य रहे कि यहाँ दृष्टान्त और धार्मिक युगल बिम्बों की धूप-छाँह बड़ी बारीकी से प्रस्तुत की गई है, यथा :

"सन्त असन्तहिं कै असि करनी।
जिमि कुठार चन्दन आचरनी॥"[1]

रूपकात्मक धार्मिक बिम्ब

श्री राम की सामर्थ्य और शक्ति सम्पन्नता का बिम्ब विषय की दृष्टि से तुलसी को अभिप्रेत है। चार शब्दों की आधी चौपाई-पंक्ति में दो-दो लघु बिम्बों को उभारकर तुलसी ने धार्मिक-बिम्ब का नियोजन किया है—एक 'संसार' का दूसरा 'श्री राम' का। इन बिम्बों को प्रकृति और जीव जगत् के तत्त्वों के सहारे मूर्त्त किया गया है। भव का बिम्ब 'वारिधि' के कारण और रघुनायक का बिम्ब कुंभज के कारण आविर्भूत होता है। 'वारिधि' प्रकृति का जलतत्त्व है, समुद्र है वह। कुंभज जीवों में मनुष्य, मनुष्यों में ऋषि, ऋगियों में अगस्त्य का गुण-धर्म लेकर बिम्ब उत्थापित करता है। संसार के बाधपूर्ण माया समुद्र को श्री राम अगस्त्य की तरह चुल्लू में पान कर जाने वाले हैं। कला की दृष्टि से सादृश्यमूलक अलंकार के सहारे यह बिम्ब उत्थित हुआ है। 'भव बारिधि' और 'कुंमज-रघुनायक' रूपक अलंकार से पुष्ट होकर बिम्ब उपस्थित करते हैं। प्रभाव की दृष्टि से यह बिम्ब श्रीराम के ईश्वरत्व को समर्थित करता हुआ पाठकों की श्रद्धा खींचनेवाला है। वैशिष्ट्य यह कि तुलसी ने अपने मानव रूप में अवतरित ब्रह्म श्रीराम की शक्ति-सम्पन्नता को बिम्बित करने के लिए लोक के मनस्वी पुरुष अगस्त्य का सहारा लिया है, यथा :

1. श्री रामचरितमानस : गीता प्रेस, गोरखपुर, संस्करण १६, उत्तरकाण्ड : पृष्ठ ९०६ पंक्ति ५।

"भव बारिधि कुंभज रघुनायक।
सेवत सुलभ सकल सुखदायक॥"[1]

अपने वंदनापरक भावों को चित्रित करने के लिए विशेषणों की भीड़ उपस्थित करने में तुलसी कुशल हैं। इनके उपमान-क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार असीम है। कमल और भ्रमर को उस सीमा में लाते हुए रणधीर और अजेय श्री रघुबीर का भजन तुलसी को अभीष्ट है। औषधि के द्वारा रोग की मुक्ति होती है। अभिमान के शत्रु श्रीराम को जन्म-मरण के रोग की महान औषध बताकर उनकी शक्ति-सम्पन्नता के विस्तार का रूप सुनियोजित किया गया है; यथा :

"तव नाम जपामि नमामि हरी।
भव रोग महागद मान ऊरी॥"[2]

श्री राम को हिमराशि, वासनाओं को मच्छड़ बताते हुए उस नित्यरस, अजन्मा, अविनाशी श्री रघुनाथ को भजने का तुलसी का आशु आग्रह धार्मिक बिम्ब को पनपाकर पदार्थ और उसके गुण दोनों के धर्मों में वासना अमूर्त्त और मसक (मच्छर) मूर्त्त पदार्थों का चित्र उभारने के प्रति है। मसक और हिमराशि के एक समय उद्भूत होने पर मच्छर का पलायन यह ध्वनित करता है कि साधक के हृदय में राम के उद्भूत होने पर वासना वैसे ही निःशेष हो जाती है जैसे प्रकाश के उगने पर अन्धकार विनष्ट हो जाता है। मानसकार ने इस सन्दर्भ में सादृश्यमूलक रूपक अलंकार के सहारे बिम्ब उभारने का प्रयत्न किया है। प्रभाव की दृष्टि से राम के प्रति नमन का आदर्श प्रस्तुत होकर तुलसी के कला-वैशिष्ट्य में चारुत्व का निबन्धन करता है; यथा :

"बहु वासना मसक हिम रासिहि।
सदा एक रस अज अबिनासहि॥"[3]

आलोक बिम्ब से समर्थित धार्मिक बिम्ब

राम-प्रताप का प्रकृष्ट रूप एक ओर प्रचण्ड सूर्य के उदय-कथन से और दूसरी ओर अविधा रूपी रात्रि के नष्ट

1. श्री रामचरितमानस : गीता प्रेस गोरखपुर : संस्करण १६ : पृष्ठ ९०४ पंक्ति ७।
2. वही : पृष्ठ ८८५ पंक्ति १२।
3. वही : पृष्ठ ९०० पंक्ति ११।

होने के उल्लेख से बड़ा ही प्रचण्ड बन पड़ा है जिसमें चाक्षुष अनिवार्यता से सम्पन्न आलोक बिम्ब का प्रस्फुटन होता हुआ दीख पड़ता है। सूर्योदय के पश्चात् उल्ल छिपते हैं; ज्ञानोदय के पश्चात् पाप मिटते हैं। दूसरी ओर सूर्योदय से कुमुद मुँदते हैं; हृदय में ज्ञानसूर्य की अवदात रश्मि के प्रकाशित होने से काम-क्रोध सकुचाते हैं। इस प्रकार मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थों के श्रीनियोजन के द्वारा गोस्वामीजी ने धार्मिक बिम्ब के गठन में अपनी बारीक कारीगरी प्रस्तुत की है, यथा :

"जिन्हहि सोकते कहहु भवानी।
प्रथम अबिद्या निसा निसानी॥
अघ उलूक जहँ तहँ लुकाने।
काम-क्रोध कैरव सकुचाने॥"[1]

रूपकात्मक आवरण में ग्रथित उपमाप्रधान धार्मिक बिम्ब

नदी और तरनी के चाक्षुष चित्र मूर्त्तता सूचक हैं। इसके विपरीत 'मोह', 'विरति', 'विवेक', 'भगति' आदि अमूर्त्ततावोधक हैं। 'तरनी' को समझने के लिए विरति, विवेक, भक्ति आदि के अमूर्त्त बिम्ब फलित होते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार निम्नांकित अर्द्धाली के सम्पूर्ण चरण में राम-कथा की महिमा-गरिमा वर्णित है; यथा :

"बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी।
मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी॥"[2]

एक सम्पूर्ण विशेषण पद के रूप में इस प्रकार के धार्मिक बिम्ब को रखकर उसकी भव्यता का अंकन प्रस्तुत हुआ है। पलक जिस प्रकार नयनों की रक्षा करती है उसी प्रकार अपने सेवकों की रक्षा करने वाले राम के भजन-कथन में राम का रक्षक रूप पाठक के मन में धर्म-धरातल पर बिम्बित होता है; यथा :

"जलज बिलोचन स्यामल गातहि।
पलक नयन इव सेवक भातहि॥"[3]

श्री राम को गरूड़, काल को सर्प, श्री राम को किरात, लोभ-मोह को हिरणसमह, श्री राम को सिंह, कामदेव को हाथी कहकर राम को भजने के आग्रह में रूपकात्मक धार्मिक बिम्ब की नियोजना हुई है; यथा :

"काल कुराल ब्याल खगर जहि।
नमत राम अकाम ममता जहि॥
लोभ मोह मृग जूथ किरातहि।
मनहिज करि हरिजन सुख दातहि॥"[1]

धार्मिक बिम्ब के पोषण में दह्यमान चाक्षुष बिम्ब भी कहीं-कहीं सहायक हुए हैं। वहाँ श्री राम को सूर्य कहा गया है, संशय और शोक को घना अंधकार बताया गया है। पुनः श्री राम को अग्नि कहकर राक्षसों को वन कहा गया है। अग्नि की दह्यमानता एवं सूर्य की भास्वरता सर्वविदित है। राम में ऐसा आरोप लाकर उनके लिए दह्यमान चाक्षुष बिम्ब काढ़े गए हैं जो वस्तुतः धार्मिक बिम्ब की घटा-छटा से युक्त हैं :

"संसय सोक निबिड़ तम भानुहि।
दनुज गहन घन दहन हासानुहि॥"[2]

धार्मिक एवं कविसमय परक बिम्बों की धूप-छांह

चकोर पक्षी का उपमान लेकर धार्मिक बिम्ब के मध्य कविसमयपरक बिम्ब का भी सफल नियोजन हुआ है। मानवजीवन के बंधनकारक 'कर्म, गुण, काल और स्वभाव' अमूर्त्त को चकोर मूर्त्त उपमान एवं मत्सर, मान, मोह, मद अमूर्त्त को घोर मूर्त्त के समकक्ष रखकर धार्मिक बिम्ब की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है। यह कवि प्रसिद्धि है कि चकवा-चकवी दिन में मिलते हैं और रात में बिछुड़ते हैं, उसी प्रकार कमल भी सूर्य को पाकर ही खिलता है। कोक और कमल उपमानों को कवि ने ढूँढ़कर निकाला और उस के साथ अमूर्त्त भावों को व्यक्त करने वाले ज्ञान, विज्ञान (कमल रूप में)—सुख, संतोष, वैराग्य, विवेक (चकवे रूप में) शब्दों का चयन किया जिन वैशिष्ट्यपूर्ण शब्द-चित्रों के सहारे अमूर्त्त और मूर्त्त दोनों कोटि के बिम्ब चेतना में जगते है; यथा :

"धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ए पंकज बिकसे बिधिनाना॥
सुख संतोष बिराग बिबेका।
बिगत सोक ए कोक अनेका।"[3]

१. वही : पृष्ठ ६०१ पंक्ति ५-६।
२. वही : पृष्ठ ८८७ पंक्ति १।
३. वही : पृष्ठ ९०० पंक्ति ५।

१. वही : पृष्ठ ९०० पंक्ति ७-८।
२. वही : पृष्ठ ९०० पंक्ति ९-१०।
३. वही : पृष्ठ ९०१ पंक्ति ९-१०।

रामप्रताप रूपी सूर्य के उदय होने पर अविधा के नाश-कथन में पुन: अमूर्त्त और मूर्त्त पदार्थों के बिम्ब पाठक के मन में जगते हैं। विधा अविधा आदि कथनोल्लेख से धार्मिक बिम्ब का उन्नयन सहज स्वाभाविक है।

प्रेत्य भाव के अन्तर्गत धार्मिक बिम्ब का आकलन

"बारम्बार जन्म लेना और मरना" प्रेत्य का शाब्दिक अर्थ है। इस प्रकार के अर्थसूचक विविध शब्द मानस में आवृत हुए हैं। धार्मिक बिम्ब की सीमा में भी ऐसे शब्दों के प्रयोगों से इस बिम्ब की परिधि में समुचित विस्तार हुआ है। दो उदाहरणों के सहारे कथन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जन्म-मरण के संताप का नाश करनेवाले लक्ष्मीकांत के जय-जयकार-कथन के द्वारा कृपालु-शिव आवागमन से व्याकुल अपनी रक्षा की याचना करते हैं; यथा :

"जय राम रमा रमनं समनं।
भव ताप भयाकुल पाहि जनं।।"[1]

एक अन्य स्थल पर रघुनाथजी को जन्म-मरणरूपी समुद्र को सोखने के लिए अगस्त मुनि कहकर जन्म-मरण का अमूर्त्त-बिम्ब और जल पीने की मुद्रा में दीख पड़नेवाले अगस्त मुनि का मूर्त्त बिम्ब उभारा है :

"भव बारिधि कुंभज रघुनायक।
सेवक सुलभ सकल सुखदायक।।"[2]

भास्कर चाक्षुष बिम्ब के सहारे धार्मिक बिम्ब का गठन

जो चाक्षुष बिम्ब अत्यन्त ही प्रखरता का सूचक हो वह भास्कर चाक्षुष बिम्ब है। दृष्टान्त की परिधि में आबद्ध एक धार्मिक बिम्ब ऐसा है जिसमें अरणि लकड़ी से उत्पादित सहसा चमकनेवाली आग का उल्लेख होकर राम-कथा की सर्वोपरिता बताने में हेतु कहा गया है; यथा :

'राम कथा मुनिबर बहु बरनी।
ग्यान जोनि पावक जिमि अरनी।।"[3]

मुनियों के मन रूपी मानसरोवर में निरन्तर वास करनेवाले हंस रूप श्री राम के चरणकमल की ब्रह्माजी और शिवजी

१ वही : पृष्ठ ८८४ पंक्ति ७।
२. वही : पृष्ठ ६०४ पंक्ति ७।
३. वही : पृष्ठ ६०२ पंक्ति ६।

द्वारा वन्दित बतलाते हुए एक ऐसा बिम्ब का निर्माण कौशल से हुआ है जिसका ऊपरी कलेवर रूपक का है पर अन्तराल में ऐन्द्रियिक वर्गीकरण के खूबसूरत चाक्षुष बिम्ब अधोलिखित पंक्तियों में उद्घाटित हो रहे हैं; यथा :

"मुनि मन मानस हंस निरन्तर।
चरन कमल बंदित अज संकर।।"[1]

धार्मिक बिम्ब में घनात्मक बिम्ब का तिरोहन

राम के चरण जानकी जी द्वारा सेव्य हैं। चिंतक भक्त का मन रूपी भौंरा उस चरण-कमल पर मंडराता रहता है। यहाँ भौंरे के मँडराने की गूँज में श्रौत, जानकी जी द्वारा राम की चरण-सेव्यता में स्पार्शिक, भौंरे के कमल रस-पान में आस्वाद्य और कमल पुष्प के सुवास में घ्रातव्य बिम्ब सम्भव है। राम के चरण का प्रत्यक्ष दर्शन चाक्षुष बिम्ब पैदा करता है। इस प्रकार ऐन्द्रियिक बिम्ब के पाँचों प्रकार के एक स्थल पर सम्भव होने के कारण निम्नांकित श्लोक में घनात्मक बिम्ब का लावण्यकारी छठा द्रष्टव्य है; यथा :

"जानकी कर सरोज ललितौ
चिन्तकस्य मनभृंग संगिनौ।"[2]

खण्डित बिम्बों के मध्य धार्मिक बिम्ब का उन्मेष

राम-राज्य की पवित्रता का वर्णन करने में परिसख्या अलंकार के सहारे धार्मिक बिम्ब का नियोजन हुआ है। वहाँ खण्डित चित्र समाकलित होकर पूर्ण धार्मिक बिम्ब का उद्रेक करते हैं। दण्ड सन्यासियों के हाथ, भेद नृत्य समाज में 'जीतो' शब्द केवल मन के जीतने-मात्र के लिए प्रयुक्त होकर राम-राज्य की महिमा-गरिमा बताई गई है। यहाँ रामचन्द्रजी के राज्य की शांति, न्याय एवं धर्मपरा-यणता का उल्लेख करना तुलसी को अभीष्ट है। वासना के जीतने के उल्लेख से धर्म-धारणा का तथ्य निखरता है। यहाँ खण्डित चित्रों की रमणीयता द्रष्टव्य है। भेद राम-राज्य में केवल नृत्य समाज में ही देखा जाता था। कोई नाचने वाली, कोई गाने वाला, कोई वाद्ययन्त्र पर खेलने वाला, नृत्य में मयूरी नृत्य, तांडव नृत्य आदि इसके भेद देखे जा सकते हैं। अतः नृत्यसमाज केवल एक है पर उसके

१. वही : पृष्ठ ६०४ पंक्ति ११।
२. वही : पृष्ठ ८६७ पंक्ति ६।

पृथक्-पृथक् भेद कथन से खण्डित चित्र समाकलित होकर पूर्ण बिम्बोद्रेक कर रहे हैं; यथा :

"दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहि सुनिऊ अस रामचंद्र के राज ।।"[१]

धार्मिक बिम्ब के ब्रह्माण्ड बिम्बाभास—

नमन परक भाव से घिरा कलाकार तुलसी श्रीराम में विराटत्व का समाहार पाते हैं। उन्हें वह ममता का नाश करने वाले, कामाग्नि से पीड़ित-कथित व्यक्ति को सुख देने वाले कहते हैं। राम में वह सामर्थ्य है जो काल-रूपी भयानक सर्प को भक्षण कर सकती है राम गरूड़ रूप हैं। यहाँ काल के भी महाकाल के रूप में गरूड़ उपमान के सहारे राम के विराटत्व का कथन केवल इसी उद्देश्य से हुआ है कि तुलसी उन्हें भजना चाहते हैं। विनाशी अवि-नाशी के सम्मुख नतमस्तक होकर उनकी अर्चना करना चाहता है और सच पूछें तो तुलसी को इसी अर्चना—अभ्यर्थना में पूरा रस का अनुभव होता है। इस प्रकार अधोलिखित ऊद्धरण पंक्तियों में धार्मिक बिम्ब का स्वरूप सुनिश्चित पाते हैं जिनके मध्य ईश्वर का ब्रह्माण्डपरक रूप उभय है; अस्तु तुलसी का बिम्ब नियोजन यहाँ सर्वथा मौलिक प्रतीत हो रहा है; यथा :

"काल कराल व्याल खग राजहि ।
नमत राम अकाम ममता जहि ।।"[२]

धार्मिक बिम्ब में अन्तर्भूत मिश्र बिम्ब—

विषय-दृष्टि से संत-असंत आचरण-कथनकवि का अभिप्रेत लक्ष्य है। कला-दृष्टि से दृष्टांत-अलंकार के कौशल से बिम्ब की सघन्नता सिद्ध की गई है। इस प्रकार एक स्थान पर ही धार्मिक एवं दृष्टान्तपरक बिम्बों के समाहार के प्रयत्न में तुलसी की अन्तर्मुखी प्रतिमा अपनी विलक्षणता का परिचय देती है।

संत का आचरण कष्ट पाने पर भी परहित चिन्तक-परक और इसके विपरीत असंत का कष्टप्रद होता है। यहाँ ऐसे कथन से संत की चारित्रिक शुचिता के उल्लेख में धर्म का स्वच्छ एवं निर्मल स्वरूप निखरता है। तुलसी ने असंत को कुल्हाड़ी और संत को चन्दन कहते हुए दृष्टान्त

१. वही : पृष्ठ ८९३ पंक्ति ७-८ ।
२. वही : पृष्ठ ९०० पंक्ति ७ ।

का आयोजन किया है। इस समाहार-कौशल से एक से अधिक बिम्ब के एक स्थल पर घटित होने के कारण मिश्र बिम्ब की मनोहारी छटा अवलोकनीय बन पड़ती है; यथा :

"संत असंतन्हि कै असि करनी ।
जिमि कुठार चंदन आचरनी ।।"[१]

"मानव-शरीर को प्राप्त कर उसका फल विषयभोग नहीं है क्योंकि यह अत्पल्प अवधि का होकर अंत में दुःखदायी सिद्ध होता है।" इस कथन को उसी प्रकार दृष्टान्तपरक भावों में आबद्ध करते हुए इस रूप में विस्तार दिया गया है कि जो लोग मानव शरीर को प्राप्त कर विषयों में मन को लगा देते हैं, वे मूर्ख अमृत के बदले विष ग्रहण करते हैं। तप से परलोक बनाना मानव-तन की सार्थकता है, यही अमृत-तत्व है और विषयभोग विषवत् है। अतः विषयादि भावात्मक कथनों के संदर्भ में गुंफित धर्म की रहस्यपूर्ण बातें बताकर धार्मिक बिम्ब का उद्रेक हुआ है; यथा :

"नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ।।"[२]

इसी परिपेक्ष्य में पारस मणि और घुंघुची के उपमान रख-कर विषयभोग के त्याग का बड़ा महीन संकेत सूचित हुआ है जिसमें धार्मिक बिम्ब समादृत हुआ है; यथा :

"ताहि कबहुँ भल कहहिं न कोई ।
गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ।।"[३]

ज्ञान के लिए भक्ति करने वाले लोग कामधेनु त्यागकर आक का दूध ढूंढ़ते चलते हैं। इस प्रकार का धार्मिक कथन धार्मिक बिम्ब इसलिए उजागर कर रहा है कि यहाँ तुलनात्मक शैली से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की सर्वोपरिता सिद्ध की गई है; यथा :

"जे असि भगति जानि परिहरहीं ।
केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं ।।
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी ।
खोजत आकु फिरहि पय लागी ।।"[४]

१. वही : पृष्ठ ९०६ पंक्ति ५ ।
२. वही : पृष्ठ ९११ पंक्ति १० ।
३. वही : पृष्ठ ९११ पंक्ति ११ ।
४. वही : पृ० ९८० पंक्ति १-२ ।

श्रद्धा गौ के रूपक-प्रकरण में धार्मिक बिम्ब की छटा इस रूप में बिखरती है कि सात्विकी श्रद्धा को गौ और हृदय को घर बताया गया है। श्रद्धा हृदय की एक शुद्ध धारणा है। अतः इसका धार्मिक बिम्ब सहज रूप से निम्नांकित उदाहरण में स्पष्ट होता है; यथा :

'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरि कृपा हृदयँ बस आई।।"[1]

प्रभु की कृपा का भावात्मक चित्र उसे अनुकूल वायु एवं मानव-शरीर को बेड़ा बताते हुए भवसागर-तरन के उल्लेख से धार्मिक-बिम्ब के रूप में कारीगरी द्वारा सफल हुआ दीख पड़ता है; यथा :

"नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।"[2]

आगे सद्गुरु को इस मजबूत जहाज का कर्णधार कहा गया है जो अलंकारावरण में भासित होने वाला धार्मिक-बिम्ब है; यथा :

"करनधार सद्गुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।'[3]

जल की निर्मलता मैल-काई धुवन में सहायक है। अन्तः-करण की मलिनता के प्रक्षालन हेतु रघुनाथ जी की प्रेम-भक्ति को ऐसा ही निर्मल जल बताया गया है जिसके सहारे धार्मिक बिम्ब उजागर हो रहा है :

"प्रेम-भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।।"[4]

क्रियामूलक शब्द के सहारे बिम्बोदय—

अपने को शोक-मुक्त करने हेतु उस कमलनयन प्रभु श्री राम को अपनी ओर देखने के आग्रह में 'मामवलोकय' क्रियामूलक शब्द के सहारे धार्मिक बिम्ब का स्वतः स्फुरण बन पड़ा है; यथा :

"मामवलोकय पंकज लोचन।
कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन।।"[5]

---

१. वही, पृ० ६८३ पंति ३।
२. वही : पृष्ठ ६१२ पंक्ति १।
३. वही : पृष्ठ ६१२ पंक्ति २।
४. वही : पृष्ठ ६१५ पंक्ति १२।
५. वही : पृष्ठ ६१७ पंक्ति ३।

विशेषणमूलक शब्द के सहारे धार्मिक बिम्ब का उद्घाटन—

राम को शरणहीनों कौ शरण देनेवाला बताया गया है। उन्हें मेघसमूह कहकर ब्राह्मणरूपी खेती के लह-लहाने की बात बताई गई है। जो स्पष्टतः ब्राह्मणोद्धार-कर्त्ता श्री राम का चाक्षुष बिम्ब उपजाता है। अस्तु, ब्राह्मण एवं शरणहीन व्यक्तियों में कल्याणार्थ राम का उत्कृष्ट शरणदाता रूप इस विशेषणमूलक पद के आवरण में उत्कृष्ट धार्मिक-बिम्ब का नियोजन कर रहा है; यथा :

"भूसुर ससि नव बृंद बलाहक।
असरन सरन दीन जन गाहक।।"[1]

पाठ्य-बिम्ब के सहारे धार्मिक-बिम्बोद्रेक—

कथा के श्रवण के मिस एक प्रकार का पठनीय बिम्ब 'मानस' में उल्लखित है। चन्द्रमा अमी सुधामयी किरणों से अमृत का वर्षण करता है जिससे शैत्य सुलभ होता है। राम के मुख को चन्द्रमा एवं उनकी कथा को अमृत बताते हुए पाठकों के कर्णपुरों की तृप्ति के उल्लेख से जहाँ एक ओर राम कथा-श्रवण ऐसे इन्द्रियलभ्य ज्ञान का पाठ्य-बिम्ब के सहारे विवेचन हुआ वहां दूसरी ओर भक्ति की चादर ओढ़े तुलसी इसी संदर्भ में धार्मिक बिम्ब का दृश्य उपस्थित करते हैं :

"नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर।
स्रवन पुरन्ह मन पान करि नहिं अघात मति धीर।।"[2]

प्रत्यक्ष कथन के द्वारा धार्मिक बिम्ब का उत्थान—

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में प्रत्यक्ष कथनाश्रित बहुतेरे धार्मिक बिम्ब दृष्टिगत होते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण रखकर विषय-वस्तु को स्पष्ट किया जा रहा है।

सत्य युग में सभी योगी एवं विज्ञानी हैं। हरि का ध्यान कर वे आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाते हैं। 'तरहिं भव प्राणी' स्पष्ट कथन के सहारे अग्रेलिखित पंक्तियों में धार्मिक-बिम्ब की तस्वीर काढ़ी गई है; यथा :

"कृत जुग सब जोगी बिग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।"[3]

---

१. वही : पृष्ठ ६१७ पंक्ति ६।
२. वही : पृष्ठ ६१७ पंक्ति १-२।
३. वही : पृष्ठ ६६३ पंक्ति ५।

विप्र से द्रोह करना अहितकर है। जो किसी के मारे नहीं मरता, वह विद्रोहरूपी अग्नि में दग्ध हो जाता है। यहां विप्र द्रोह रूपी अग्नि के माध्यम से लहलहाता हुआ दहर-दहरे धार्मिक-बिम्ब का उन्नयन प्रत्यक्ष कथन के द्वारा हुआ है; यथा :

"जो इन्ह कर मारा नहिं मरई।
विप्र द्रोह पावक सो जरई।।"[१]

धार्मिक बिम्ब में मिथकीय बिम्ब का समावेश—

केतु के उगने पर अनिष्ट की भारी संभावना रहती है। दुष्ट को केतु कहकर उसे जगत् के दुःख के लिए हेतु बताने के अभीष्ट कथन में धार्मिक एवं मिथकीय दोनों बिम्बों का सुनियोजन किया गया है। संसार के दुःख का कारण दुष्ट का अभ्युदय बतलाया जाकर अनैतिकता के निवारण का प्रसंग-नियोजन हुआ। इस प्रकार इस धार्मिक कथन के मूल में नीति का संदेश भी छिपा है; यथा :

१. वही : पृष्ठ ९७१ पंक्ति ८।

"दुष्ट उदय जग आरति हेतू।
जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।।"[१]

शब्द-शक्ति के चमत्कार से धार्मिक बिम्ब का उद्रेक—

काव्य-प्रणयन में तुलसी की प्रतिभा लाक्षणिक एवं व्यंजनाप्रधान शब्दों के चयन के प्रति बड़ी सतर्क है। अभिधा की अपेक्षा शेष इन दोनों चमत्कार मूलक शब्द शक्तियों के सहारे भी इनका धार्मिक बिम्ब बड़ा अनूठा बन पड़ा है। संजीवनी जड़ी के अभिधेयार्थ से विलक्षण लक्ष्यार्थ प्राणदायक शक्ति देनेवाली जड़ी से होते हुए एक स्थल पर इन्होंने जन्म-मरण के नाश के लिए राम-कथा को संजीवनी जड़ी बताकर कल्पनाशील धार्मिक बिम्ब का नियोजन किया है :

"संसृति रोग सजीवन भूरी।
राम कथा गावहिं श्रुति सूरी।।"[२]

अस्तु, बिम्बन-शक्ति की प्रौढ़ता में निपुण तुलसी की कला-सर्जना के सम्मुख बड़े बड़े कलाकार नतमस्तक हैं।

१. वही : पृष्ठ ९९० पंक्ति ६।
२. वही : पृष्ठ ९९९ पंक्ति ८।

—o: :o—

डा० प्रेमचन्द्र सिंह
हिन्दी विभाग,
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
पड़रौना, देवरिया।

रीतिकाल का अचर्चित : प्रतिनिधि भक्त कवि

राय श्री ईश्वरी प्रताप नारायण

यहाँ रीतिकाल के जिस अचर्चित कवि की कृतियों का उल्लेख हम करने जा रहे हैं उनकी प्रथम काव्य रचना सन् १८७० में प्रकाशित हुई। इस कृति की समीक्षा करते हुए हिन्दी के प्रख्यात रीतिवादी आलोचक लाला भगवानदीन ने कहा है 'कई विचारों से मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का एक उत्तम ग्रन्थ है।' काशी नागरी प्रचारिणी सभा के व्यवस्थापक श्री रामनारायण मिश्र का कथन भी ध्यातव्य है। "पुस्तक के पन्ने पलटने लगा—सोचने लगा कि कवि एक कोरा धनी मानी भूमिपति ही नहीं है, वह तो अपने ही शब्दों में—"साधुन को नित संग जिन्हें, अरु साधुहि भाव धरे मन माहीं" कोटि का उच्च श्रेणी का महानुभाव है। वह पहले भक्त हैं तब भूमिपति हैं। वह साधु है, सज्जन है और शास्त्रज्ञ है।' विद्वानों की इस प्रकार की टिप्पणियों से संयुक्त एवं प्रकाशित होने पर भी यह रचना-संग्रह न जाने किन कारणों से हिन्दी-साहित्येतिहासकारों की दृष्टि से ओझल रही। रचनाओं के सम्यक अनुशीलनोपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह रीतिकालीन प्रवृत्ति का पक्का ज्ञाता था, संगीत का पंडित था, राजसी पर्यावरण में जीवन यापन करता हुआ भी भगवद् भक्त था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन कवियों को दो वर्ग रीतिबद्ध और रीतिमुक्त में बाँटा था। किन्तु बिहारी की स्थिति को साफ करने के लिए पं० विश्वनाथ मिश्र ने इस विभाजन में एक नया वर्ग रीति सिद्ध जोड़ दिया तथा सभी प्रकार के रीतिकालीन कवियों को इन तीन चौखटों में स्वीकार किया। इन गणमान्य आचार्यों के स्वीकृत सिद्धान्तों के निकर्ष पर इनकी रचनाओं को परखते हैं तो यह कवि अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण अलग खड़ा दिखाई पड़ता है। पूर्ण रूप से इन्हें न तो रीतिबद्ध न रीतिसिद्ध और न ही रीतिमुक्त कहा जा सकता है किन्तु विचारणीय बात यह है कि सूक्ष्म रूप से ये तीनों विशेषताएँ इनके काव्य में मिल जाती हैं। परम्परानुसार राधाकृष्ण के सौन्दर्यांकन में 'नख-शिख' का उपयोग किया है। षट् ऋतुओं का भी वर्णन किया है। मान लीला के अन्तर्गत पूर्ण लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ या आचार्यत्व की दृष्टिकोण को अपनाया गया है और इसके अतिरिक्त ध्यान देने की बात यह है कि सारी काव्यधारा भक्ति की ओर उन्मुख होकर प्रवाहित हुई है। अन्य किसी उपयुक्त प्रचलित नाम के अभाव में 'रीति-भक्त' नाम से अभिहित करें तो अनुचित न होगा। 'रीति-भक्त' का तात्पर्य यह है कि रीति का भक्त नहीं, वरन् रीति की समस्त विशेषताओं के साथ भक्ति की उज्ज्वल धारा प्रवाहित होती है।

जीवनवृत्त

पडरौना नगर, उत्तर-प्रदेश का पूर्वी जनपद, देवरिया का, पूर्वान्त क्षेत्र है। इस नगर के राज्य परिवार में सन् १८०२ में भक्त कवि श्री ईश्वरी प्रताप नारायण का जन्म हुआ। आप अपने पिता श्री भवानी बख्श राय की इकलौती संतान थे। पडरौना नगर की उच्च शिक्षण संस्थाएँ (माध्यमिक एवं स्नातकोत्तर विद्यालय) जिस नाम श्री उदितनारायण सिंह को आज अलंकृत कर रही है वे आपके प्रपौत्र थे। कवि की वंश परम्परा का उल्लेख श्री बैजनाथ मल्ल द्वारा प्रदत्त एक मुकदमे की प्रीति के आधार पर कर रहा हूँ :

राम भुआल राय
|
राय हुलास राय
|
राय हरगोविन्द राय
|
राय राम नारायण राय
|
राय भवानी बख्श राय
|
राय ईश्वरी प्रताप राय (सन् १८०२ ई० १८६८ ई०)

राय मदन गोपाल	मदन मोहन	राम बल्लभ

पिता की मृत्यु के अनन्तर आप पडरौना राज्य की गद्दी पर आसीन हुए। तत्कालीन भारतीय शासकीय सत्ता मुगलों के हाथ से खिसककर अंग्रेज़ों के हाथ में आ गयी थी। राज्य तंत्र को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए इन गौरांगों ने कलकत्ता में उच्च न्यायालय तथा न्यायालय आगरा में स्थापित किया। राज्यभिषेक होते ही तत्काल, आपको राजनयिक प्रपंचों के पचड़े में इसलिए पड़ना पड़ा क्योंकि निकटवर्ती राज्य बेतिया के शासकों ने भू सम्पत्ति हड़पने के लिए न्यायालय में मुकदमा कर दिया। इस अनर्गल प्रलाप को शान्त करने के लिए आपको आगरा तथा कलकत्ता का कई बार चक्कर लगाना पड़ा। आगरा प्रवास काल में आप अपना अधिकांश समय वृन्दावन में बिताया करते थे। इस प्रकार यह राजनयिक कुचक्र भी आपकी जीवन-धारा को मोड़ने के लिए महत्त्वपूर्ण संयोग ही कहा जा सकता है। इसी व्याज से लीलाधारी श्रीकृष्ण की पावन क्रीड़ा भूमि पर विचरने का अत्यधिक अवसर प्राप्त हुआ। कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग की भावना जो पहले से ही संचित थी, वह उचित अवसर तथा स्थान पाकर पूर्ण रूप से स्फुरित हुई।

श्रीकृष्ण के प्रति जागृत निष्ठा की मूर्ति रूप देने के लिए इन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय के तत्कालीन सलेमावाद गद्दी के आचार्य श्री गोविन्द देव शरणजी से दीक्षा प्राप्त की। सुना जाता है कि तत्कालीन राजनयिक प्रपंच से मुक्ति पाने के लिये यमुना के तट पर आपने यह प्रतिज्ञा ली थी कि यदि आरोपित मुकदमा का निर्णय अनुकूल हुआ तो सम्पूर्ण राज्य राधा-वल्लभ को समर्पित कर दूँगा। भक्त की इच्छा पूर्ण हुई। पडरौना राज्य में पदार्पण करते ही १ लाख रुपये का भव्य तथा विशाल श्याम धाम मंदिर का निर्माण करवाया गया। इसको अलंकृत और चित्ताकर्षक बनाने के लिए वृन्दावन उपवन की स्थापना की गयी। यातायात के उस अभावग्रस्त युग में इस उपवन को सुसज्जित करने के लिए वृन्दावन से मिट्टी तथा पौधे मँगाकर रोपे गये हैं। यह भी कहा जाता है कि ये सम्पूर्ण राज्य का स्वामी लीलाधारी श्रीकृष्ण को मानते थे तथा स्वयं को उसका प्रबन्धकर्ता मात्र। राजसी पर्यावरण में रहकर भी जिस तरह से जीवन यापन कर रहे थे उससे 'देह धमंधारी पै विदेह राज जूसे' तथा कथित परम्परा का स्मरण हो आता है।

रचनायें

अब तक लेखक को कवि की दो मुद्रित रचनायें प्राप्त हुई हैं। इन दोनों रचनाओं की अलग-अलग समय की एक-एक प्रति और भी देखने को मिलती है। किन्तु इन प्रतियों का यदि तुलनात्मक ढंग से विचार किया जाय तो विदित होगा कि इनके विषय वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। छपाई में सफाई आ गयी है तथा आवरण पृष्ठ सुसज्जित एवं परिचय के लिए भूमिका को विस्तृत कर दिया गया है। इनकी पहली रचना काव्य-संग्रह है जिसका कवि ने नाम 'रहस्य काव्य शृंगार' दिया है तथा दूसरी रचना, जो गद्य-शैली में है उसका नाम 'भक्त कल्पद्रुम' है। रहस्य काव्य शृंगार कोई स्वतंत्र ग्रंथ न होकर, लघु तथा मुक्तक काव्य एवं फुटकर कवित्ताओं का संग्रह' है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विविध विषयों तथा भावों से संयुक्त विभिन्न समयों में कवि ने जिन मुक्तक रचनाओं का प्रणयन किया होगा, उसे ही संरक्षकों ने ग्रंथ रूप में संग्रहीत कर दिया। इस ग्रंथ का प्रथम लघु काव्य 'रहस्य काव्य शृंगार' है। अतएव इसी नाम को उपयुक्त समझकर सम्पूर्ण ग्रंथ का नामकरण कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत संकलित प्रायः सभी ग्रन्थ मुक्तक काव्य परम्परा के हैं और एक ग्रंथ दूसरे ग्रन्थ से विषय की दृष्टि से स्वतंत्र तथा मौलिक हैं। इन ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. **रहस्य काव्य श्रृंगार**—इस लघु काव्य में कुल १५ छंद हैं। ५ छंद तो संस्कृत भाषा में रचित मंगलाचरण के रूप में रखे गये हैं। शेष दस छंद दो पंच रत्नों में विभाजित करके राधा और कृष्ण से भक्ति की याचना की गई है।

२. **ध्यान मंजरी**—इस ग्रंथ में कवि ने भक्तों के ध्यान के लिए सम्पूर्ण वृन्दावन के सौन्दर्य को बिम्बात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में वृन्दावन के विभिन्न पुष्प, फल, वृक्ष, पक्षी एवं अन्य मोहक दृश्य को शब्दों द्वारा चित्रित किया है। तथा उत्तराद्ध राधा और कृष्ण की छवि का अंकन नख शिख परंपरा के अनुसार किया है।

३. **विनय पच्चीसी**—इस ग्रन्थ में विनय के २५ पद हैं। इसी कारण से कवि ने इसका नामकरण विनय पच्चीसी किया है। इन पदों में भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों की विशेषतानुसार चर्चा की गयी है तथा सांसारिक कष्टों से निवृत्त होने की याचना की गयी है।

४. **श्री मान लीला**—यह लक्षण-ग्रन्थ-श्रृंखला की एक कड़ी है। आरम्भ में कवि ने 'गुरुमान' का लक्षण प्रस्तुत कर तदनुकूल राधा और कृष्ण के मान-प्रसंग के द्वारा उदाहरण (लक्ष्य) प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ से कवि की शास्त्रज्ञता का बोध होता है।

५. **अन्य पंच रत्न**—भक्ति-भाव से ओतप्रोत ग्रंथ है। राजसी वातावरण में रहते हुए भी कवि ने जिस ढंग से अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त किया है वह उसे राजा की अपेक्षा भक्त के रूप में अंकित करता है।

६. **स्फुट-काव्य-संग्रह**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह ग्रंथ समय-समय पर कवि द्वारा रचित-भक्ति परक छंदों का संग्रह है। दैन्य भाव को मूर्त रूप देने के लिए भक्त कवियों ने जिन पद्धतियों का अवलंबन लिया है। उसी का इसने भी अनुकरण किया है।

७. **अथ संगीत लिष्यते**—इस ग्रंथ में १०६ कोटि की राग-रागनियों का सोदाहरण उल्लेख है। संगीत प्रेमियों के लिए यह एक अनुपम ग्रंथ सिद्ध होगा।

८. **भक्त कल्पद्रुम**—हिन्दी साहित्य के आरम्भिक गद्य ग्रन्थों की श्रेणी में इसका स्थान होना चाहिए। ५२३ पृष्ठों का यह विशालतम् ग्रन्थ भाषा तथा शैली की दृष्टि से अन्यतम उदाहरण सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ की रचना सन् १८६५ से ६८ ई० में हुई। ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी का गद्य साहित्य इस समय सज और संवर रहा था। परिपक्वता का सर्वथा अभाव था।

ब्रजभाषा गद्य के सम्बन्ध में जिन लोगों ने लिखा है उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि ब्रजभाषा की सुनिश्चित परम्परा नहीं मिलती। मेरा ऐसा विचार है कि यदि ब्रजभाषा गद्य के इतिहासकारों का ध्यान प्रस्तुत पुस्तक की ओर गया होता तो उन्हें गद्यके विकास के टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में अवश्य सहायता मिलती। उदाहरणार्थ एक दृष्टांत प्रस्तुत किया जा रहा है। अब भग्वभक्तों से मेरी यह प्रार्थना है कि यह 'भक्त कल्पद्रुम' नाम ग्रन्थ परम आनन्द का देने वाला पढ़ने व सुनने पर तुम्हारे विचार में सत्य करिकै यह मेरा परिश्रम तुम्हारे प्रसन्न के योग्य होय तो इस अपने किंकर का यह प्रसन्न दान देव कि जो ग्रन्थ के मंगलाचरण में ध्यान लिखि आया हूँ सो सदा अनुक्षण निश्चित मेरे हृदय में बसा रहे। (भ० क० पृ० ११-१२)

यद्यपि यह ग्रन्थ 'भक्त माल' की परम्परा में लिखा गया है तथा उसको और अधिक साफ ढंग से जताने में सहायक है।

साहित्यिक मूल्यांकन

क्रमानुसार इस कवि की रचनाएं रीतिकाल और आधुनिक काल के संधिकाल स्थली की हैं। रचनाओं का विषय वस्तु रीतिकाल के ऐहिकता और लौकिकता परक, श्रृंगार से सर्वथा अलग उज्ज्वल श्रृंगार से आवृत्त है। कविता के अन्तः स्वर भक्ति का ही है किन्तु समय के प्रवाह के कारण रीतियुगीन प्रवृत्तियां भी कभी-कभी अपना असर दिखाती हुई जान पड़ती हैं। सत्य तो यह है कि आद्यन्त रचनाएं भक्ति भाव से हुई भरी हैं। प्रसंगवश कवि ने लक्षण ग्रन्थों को ध्यान में रखकर 'श्री मान लीला' का वर्णन किया है। लेकिन इस ग्रन्थ का भी मूल स्वर भक्ति या उज्जवन श्रृंगार ही है।

कवि निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित है। अतः राधा और कृष्ण के युगल स्वरूप को आराध्य के रूप में स्वीकार किया है। समस्त जीवों को सुख तथा आनन्द प्रदान करने वाली राधा जी की प्रशंसा तथा भक्ति की याचना कवि इस प्रकार करता है।

> गुंजा कुंज विहारिणी सुहरिणी हारै मनोहारिणी।
> गीतज्ञा रस मंजरी रसमयी शृंगार संजीवनी।।
> गत्या मत्तगजेन्द्र दर्प्प दमनी आनन्द संवर्द्धिनी।
> दास्यं देहि व्रजेश्वरी सुखकरी सर्वेश्वरी राधिके।।"
> (र० का०, शृं० पृ० ३)

और इसके साथ ही राधा वल्लभ कृष्ण के दिव्य स्वरूप का गुणगान कवि ने इस प्रकार किया है—

> "हे वृन्दावन नाथ गोकुल पते गोलोक नाथ प्रभो।
> राधानाथ रमापते रतिपते गोपीपते श्रीपते।।
> हे विष्णो कमलापते ब्रजपते वृन्दापते हे विभो।
> दास्यं देहि दयानिधे सुख निधे शोभानिधे माधव।।
> (र० का० शृं० पृ० ४)

राधा और कृष्ण के लोकातीत सौन्दर्य को उद्घाटित करने के लिए कवि ने परम्परा से हटकर सर्वथा मौलिक और नवीन उपमानों का चयन किया है। मोतियों से अलंकृत केशराशि के मध्य राधा की मांग इस प्रकार सुशोभित हो रही है, कि श्याम वर्णी यमुना के बीच में शुभ्र गंगा का आगमन हो गया है।

> 'अद्भुत उज्जवन मंजु मांग मोती छवि छाई।
> जनु कालिन्दी मध्य गंगधारा धसि आई।।
> (ध्यान मंजरी पृष्ठ ११।२८)

राधा के कोमल एवं लायण्ययुक्त आंगिक सौन्दर्य को रूपायित करने के लिए जिस बिम्ब को कवि ने प्रस्तुत किया है वह उसके सूक्ष्मग्राही अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। भूषणों के भार के कारण गौरवर्णी राधा की कांति अरूणाम हो गयी है। इस विशिष्ट परिवर्तित सौन्दर्य की उपमा कहीं भी कवि को उपलब्ध नहीं होती इसलिए अंत में वह सोचकर यह कहता है कि गुडहर का फूल गुलाब के रंग के रूप में धीरे-धीरे बदल रहा है—

> "चपि भूषन के भार लाल आभा कढि आई।
> रसिकन को अनुराग मीनि धौं अति छवि छाई।।
> ढूढ्यों दृगन पसारि कहीं उपमा नहीं दरसे।
> गुडहर होत गुलाव तल्प जाके छिन परसे।।

इसी प्रकार कृष्ण के अतीव मुग्धकारी छवि के रूपांकन में भी कवि नये उपमान ढूंढ़कर लाया है। कृष्णके विशाल श्यामल वक्ष पर मोतियों की माला ऐसी प्रतीत हो रही है कि मानों मरकत मणियों के पर्वत पर हजारों चन्द्र एक साथ उदित हो रहे हैं—

> "गजमोतिन के हार दीर्घ वक्षो परभाकर।
> मरकत मनि के शैल उए जनु सहस सुधाकर।।'

अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत कवि की एक नयी सूझ-बूझ देखिये—

> नख श्रेनी छवि देति जोति जगमगत प्रकाशन।
> बैठि रही जनु चन्द्र मंडली कमल दलासन।।
> (ध्यान मंजरी, पृ० ६६)

'मानलीला' में कवि ने जिस ढंग से उदाहरण प्रस्तुत किया है वह निर्विवाद रूप से उसे आचार्य कोटि में स्थान दिलाने में समर्थ हैं। मान का लक्षण कवि के शब्दों में इस प्रकार है—

> "विहंसत औरे नारि सों, लखें पीय को तीय।
> उर उपजत गुरुमान तहें, मिटत परेपा पीय।।
> (श्री मान् लीला, ३६।४)

राधा ने ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण को देख लिया है। मानावस्था में मुंह मोड़े हुए पड़ी हुई है। कृष्ण मानमोचन के लिए अनुनय विनय करते हैं। इस पर राधिका जी ने जो मार्मिक व्यंग्य किया है, वह सोचने और विचारने के लिए तो है ही, रसिकों को सिर धुनने के लिए भी पर्याप्त है। समस्त विरहदग्ध समानधर्मी उपमानों को स्मरण कर उनकी भूल के द्वारा अपने किये पर पश्चाताप करती हैं और यह स्वीकार करती है इसमें किसी का कोई दोष नहीं है, अपने-अपने भाग्य की बात है।

> "मधु मधुकर ज्यों भूलि फूल चंपा पछिताने।
> दीपक पतित पतंग मोहवश ज्यों दुखमाने।
> सेमर विटप उपासि अंत ज्यों कीर कलापै।
> फंसि बंसी बिच मीन दीन ज्यों सो चति आपै।

अब लों सनेह तुम सो किये हिय हूक की दाग है ।
यह तुम्हें दोष दीजै कहा सो अपनोई भाग है ।।''
(श्री मान लीला, ४८।२९)

'हिय हूक की दाग है' तथा 'अपनोई भाग है' में कितनी विवशता और पीड़ा है, यह विचारने की बात है । इसके बाद राधिका जी ने जो बात कही है वह और भी तीखी है । 'हे वनमाली, यमुना के तट पर, करील कुंजों के बीच में जिस किसी के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा हो, करें, हमें कोई शिकायत नहीं है । मैंने किए का फल प्राप्त किया । एक बार जो गलती हो गयी उसकी मैं पुनरावृत्ति नहीं चाहती हूँ । कृपया अब मेरे ऊपर दया कीजिए ।'' इतना कहने पर राधिका के नेत्रों में अश्रुजल झलक आते हैं वे मौन हो जाती हैं ।

धन यमुना तट कुंज पुंज मंजुल मिलि आली ।
जित जित चाहो करो केलि तित बनमाली ।
हम जैसी जो करी भोग तैसी सो पाई ।
मूल भई सो भई अब कृपा करो कन्हाई ।
द्रुत बात कहत यो ललन सो जलज नयन उमगि ।
अति रही मौन ह्वै मान सो रस विराग अनुराग पगि ।।

इस ग्रंथ के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो में भक्ति का स्वरूप ही अधिक उद्घाटित हुआ है । भक्त कवि ने अच्छी तरह से अनुभव किया है कि प्रभु के अतिरिक्त कोई भी इस संसार में हितैषी नहीं है । इस असार ससार में सार सम्बन्ध निरर्थक हैं, क्षणमात्र मे ये त्याग देते हैं—

''जाके लिए सब धर्म तज्यो,
श्रम करि बहुधाम धर्‌यो धन ढोई ।
लोक उभै निज हाथ गंवाय,
सदा पट लोभ लपेट कै सोई ।।
सोई छनेक में तोहि तजै,
नगनै कछु कीरति पीरहि कोई ।
तासों 'प्रताप' अबै चित चेतु,
बिना हरि हेतु हित् नहि कोई ।।
(अ० पं०, ६५।२४)

ऐसे अनेक पद इनके ग्रंथों में भरे पड़े हैं । जिनमें कवि ने अनेक दृष्टान्तों से, दुखों में पड़े हुए लोगों को चिन्मुख होने का संदेश दिया है । भक्त दृढ़तापूर्वक अपने मन को पद-पंकज पर स्थित करना चाहता है । उसके हृदय की यह प्रगाढ़ भावना एक बार भक्तवर रसखान की याद दिला देती है । अनन्य भाव से उमंगति कवि हृदय की तरंग देखिये —

''दुहुँ लोचन को करि चारु चकोर
सदा नख चंद्र प्रभा चारिहौं ।
सुनिहौं श्रुति सो मधुनाम,
महामधुनाम सोई रसनारसिहौं ।
अतिसुन्दर सावरों नन्द कुमार,
हिये सोई मूरति धरिहौं ।
मन की अब भृंग 'प्रताप' कहे,
हरि के पद पंकज करिहौं ।

कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा के कवियों ने अपने हृदयोद्गारों को अभिव्यक्त करने के लिए जिन गोपियों को माध्यम बनाया है । उसी प्रकार इस कवि ने भी गोपियों का सहारा लेकर अपने मनोभावों को प्रस्तुत किया है । अत्यधिक विह्वलता के साथ किस तरह गोपियां हरी-हरी लताओं के बीच में अपने हरी की तलाश कर रही हैं,

''किंकिनि परि चरन चारु गज-मन की लंकहार,
छूटि कुसुम-कलित-केश कंकन इक पानि मों ।
छनेक चाल लोलती छनेक ना सु डोलती,
पखान सौ खड़ी मनो सुमोर के परखान मों ।
सुन्दर छविछैल सयाम जीते जिहि कोरि काम,
मूरति मृदु-मंजु जो धरे प्रताप प्रन मों ।
सरीर स्वेद गारती सिंगार को विगारती,
हरी हरी पुकारती हरी हरी लतान मों ।

इस छंद के पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि समस्या पूर्ति की ओर भी कवि का पूरा ध्यान गया है जो तत्कालीन युग की प्रचलित काव्य रीति थी ।

गोपी-विरह-वर्णन, कृष्ण भक्त कवियों का बहुत प्रिय विषय रहा है पावस ऋतु (यह ऋतु अत्यधिक कामोत्तेजक ऋतु मानी जाती है) में भी जब कृष्ण वापस नहीं आते हैं तो विरहाग्नि में दग्ध गोपियों के हृदय का धैर्य डिगने लगता है । अपनी विवशता पूर्ण स्थिति को जानकर वे यह

सोचने लगती हैं कि हमारी धीरता को ही खंडित करने के लिए कामदेव ने पावस ऋतु को भेजा है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि की काव्य चतुरता देखिये विरह भाव को उद्दीप्त करने के लिए शृंगार ने वीर रस का रूप धारण किया है—

"सेत सेत बक के निसान फहरान लागे,
ईचि ईचि चपला कृपान चमकार री।
धहरन भुसुण्डी को आवाज-सी करन लागे,
बंदन के झरन भीने बान झरलाए री।
भनत 'प्रताप' रीति नायक नरेश जू ने,
धीर गढ़ तोरिबो को पावस पठाए री।
एरी मेरी बीर अब कैसे कै धरूंगी धीर,
आए घनश्याम, घनश्याम नहिं आए री।
(अ० पं०, पृ० ११२।१२३)

पीड़ा या वेदना का मूल कारण यह है कि कजरारे बादल तो आ गए किन्तु उन्हीं के समान वर्णी स्याम कृष्ण नहीं आए।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का यह कवि मूल रूप भक्ति भाव से ओतप्रोत है। यह बात जरूर है कि रीति-कालीन रसिकता की थोड़ी छाप है। कवि अपने ही शब्दों में रसिक है, किन्तु अनन्य रसिक। वह भक्ति को पवित्रता नारी की भांति श्रेष्ठ मानता है।

"रसिक अनन्यन विना आन यह छवि नहिं पावे।
पतिव्रता को रहस कहां गनिका को आवे॥
(ध्यान मंजरी, पृ० ३२।१५०)

यह कवि के रचनात्मक साहित्य का बहुत संक्षिप्त परिचय है। उसका काव्य-कला, जीवन-दर्शन तथा भाषा-शैली के सम्वन्ध में अभी बहुत कहने-सुनने को गुंजाइश है। इस निबन्ध का प्रयोजन केवल इतना ही है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की काव्य-शृंखला के बीच जो स्थान रिक्त छूट गये थे। जिनकी ओर काव्य मर्मज्ञों का ध्यान नहीं गया था। उधर साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया जाय। प्रस्तुत कवि अतीत की एक ऐसी कड़ी के रूप में हमारे सामने आता है जिसके अध्ययन से निश्चित रूप से व्रजभाषा काव्य के क्रमिक विकास को समझने में अधिक सफलता मिलेगी।

मैं कु० कन्हैया प्रताप सिंह तथा श्री बैजनाथ मल्ल के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। जिन्होंने ग्रन्थ उपलब्ध कर मेरे कार्य को सरल बनाया है।

श्री रमाकान्त शर्मा
हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर।

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-सीमाएँ'

शुक्ल जी को हिन्दी-समीक्षा के राजपथ-निर्माण का श्रेय देना सर्वथा उचित है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनकी समीक्षा-पद्धति सर्वथा निर्दोष है। उन्होंने एक ओर हिन्दी आलोचना को ठोस धरातल, मनोवैज्ञानिक दृष्टि और नयी दिशा प्रदान की तथां उसके स्वरूप निर्धारण का भागीरथ कार्य कर उसे स्थायित्व प्रदान किया तो दूसरी ओर वे अपने पूर्वाग्रहों, रुचिवैभिन्य और एकांगी दृष्टिकोण से मुक्त नहीं रह सके। अनेक स्थलों पर शुक्लजी के व्यक्तिगत आग्रह उभर आये हैं। निष्पक्षता का निर्वाह नहीं हो सका है। इतना होने पर भी शुक्लजी की सीमाएं उनकी विशेषताओं के सामने छिप-सी जाती हैं। समुद्र में जहां असंख्य रत्नादि हुआ करते हैं वहीं कुछ घोंघे आदि का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक और असंगत बात नहीं।

१. शुक्लजी के पूर्वाग्रह-तुलसी-विषयक

जहाँ शुक्लजी की समालोचक दृष्टि अत्यन्त व्यापक और मर्मस्पर्शी थी, वहीं उनके कुछ अपने आग्रह भी थे, जो शुक्लजी पर किसी हद तक हावी हो चुके थे। तुलसी और तुलसी के 'मानस' के प्रति शुक्लजी के आग्रह को झुठलाया नहीं जा सकता है। तुलसी उनके आदर्श कवि थे और 'रामचरितमानस' उनका आदर्श काव्य। तुलसी के काव्य-आदर्शों को इन्होंने आलोचना के प्रमुख मान के रूप में स्वीकार किया। तुलसी से बढ़कर इनकी दृष्टि में हिन्दी साहित्य में और कोई कवि नहीं हुआ। उनकी दृष्टि में सूर जैसा कवि भी तुलसी के नीचे के दरजे का ही है। उनका कहना है—"न जाने किसने 'यमक' के लोभ में यह दोहा कह डाला कि—'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास"।' यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कण्ठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"[१] शुक्लजी की दृष्टि में केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिए रखना उसका अपमान करना है।[२] शुक्लजी ने तुलसी के कमजोर पक्षों की सदैव रक्षा की है। तुलसी के 'मानस' में स्त्रियों की निंदा विशेष रूप से की गई है, जिसे शुक्लजी भी स्वीकार करते हैं। किन्तु वे कितनी सरलता और सफाई के साथ तथ्य को छिपाने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं—"उन पर स्त्रियों की निन्दा का महापातक लगाया जाता है, पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिए किया है। उसे उनका बैरागीपन समझना चाहिए[३]...... अतः स्त्रियों के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने जो कहा है वह सिद्धान्त-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है।"[४]

शुक्लजी को तुलसी-विषयक सफाई को इससे भी अधिक वहाँ देखा जा सकता हैं जहां वे 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी"—चौपाई की व्याख्या कर अपना निष्कर्ष देते हैं—"चिढ़ने का कारण है 'ताड़न' शब्द जो 'ढोल' शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लाया गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है, पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।"[५] और तो और

१. गोस्वामी तुलसीदास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६१
२. गोस्वामी तुलसीदास, ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६०
३. वही, पृष्ठ ५५
४. वही, पृष्ठ ५६
५. वही, पृष्ठ ५८

भरत का अपनी माता के प्रति ऐसा कथन कि "वर माँगत मन भई न पीरा, गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा"— शुक्लजी को मनोहर और संगत प्रतीत होता है। उनका कहना है —"ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है।'[1] यह सब शुक्लजी का तुलसी के प्रति पूर्वाग्रह ही है। शुक्लजी अपने आदर्श कवि तुलसी पर किसी प्रकार के आरोप लगाये जाने को स्वीकार नहीं करते। वैसे तो शुक्लजी ने तुलसीदास जी की कमियों का उद्घाटन 'कुछ खटकने वाली बातें' शीर्षक निबन्ध में किया है, किन्तु हमें उसमें कोई विशेष खटकनेवाली बात नजर नहीं आती। जो वस्तुतः खटकनेवाली बातें हैं, शुक्लजी ने उन पर दृष्टि ही नहीं डाली है और अगर डाली भी है तो आग्रह के कोहरे में वह तथ्य को पकड़ने में असमर्थ-सी रही है। एक बात और—शुक्लजी कभी यह स्वीकार नहीं कर सकते कि कोई दूसरा व्यक्ति तुलसी पर आरोप लगाये। यदि कोई पाठक 'मानस' के कुछ प्रसंगों से ऊब जाता है तो दोष पाठक का ही है, तुलसी का नहीं—देखिए—"कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते-से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोक की दृष्टि लगी रहती है। कृष्ण का गोचारण और रासलीला आदि देखने को भी देवता एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह।"[2]

शुक्लजी के तुलसी-विषयक आग्रह को वहाँ भी देखा जा सकता है जहाँ वे तुलसी का नाम आने पर उनकी विशेषताओं को झड़ी लगाने लगते हैं अथवा किसी अन्य कवि की आलोचना करते-करते तुलसी की प्रसंशा में भी दो चार पंक्तियाँ लिख डालते हैं। सूर की आलोचना में तुलसी की प्रशंसा की घुसपैठ देखिए—"सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसो की 'गीतावली' मौजूद है, पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं वसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एक मुखी।"[1]

२. जायसी-विषयक आग्रह

यद्यपि शुक्लजी का जायसी के प्रति उतना आग्रह नहीं था जितना तुलसी के प्रति रहा है तथापि बहुत-से स्थलों पर जायसी के प्रति उनके आग्रह की रेखाएँ स्पष्ट नजर आती हैं, जैसे बिहारी के काव्य की अतिरंजनाओं को तो वे मजाक की हद तक पहुँची मानते हैं और जिसकी खिल्ली वे स्थान-स्थान पर उड़ाते भी हैं किन्तु जायसी की अतिरंजनाओं को वे युक्तिसंगत और सार्थक मानते हैं। जायसी की अत्युक्तियों को लेकर वे लिखते हैं—"इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अन्तर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं। बाहर-बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदण्ड मात्र नहीं।"[2]

जायसी के विरह-वर्णन में भी अनेक बीतभस चित्र उपस्थित हुए हैं कई स्थलों पर 'रक्त के आँसू', तोला माँस और सूखी हड्डियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु शुक्लजी ने उसकी इतनी भीषण और कटु आलोचना नहीं की है जितनी बिहारी और केशव की।

३. सगुण भक्ति-विषयक आग्रह

निर्गुण की अपेक्षा सगुण काव्यधारा को शुक्लजी की विशेष आशंसा प्राप्त हुई। निर्गुण कवियों की विस्तृत

---

१. वही. पृष्ठ १०८

२. भ्रमरगोतसार—लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६

१. वही, पृष्ठ २६

२. त्रिवेणी—सम्पादक—कृष्णानन्द पृष्ठ ४०

आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखने में शुक्लजी का मन नहीं रम पाया है, इसका प्रमाण उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। किन्तु सूर और तुलसी पर उनकी लिखी विशेष लम्बी-चौड़ी भूमिकाओं (जो अपने आप में स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप भी हैं) से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सगुण काव्य के प्रति उनका आग्रह था। सगुण भक्ति के महत्व का प्रतिपादन शुक्लजी ने बहुत-से स्थलों पर किया है। इसी पूर्वाग्रह के कारण तुलसी और सूर उनके प्रिय कवि हो सके।

४. प्रबन्धकाव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

इसी प्रकार शुक्लजी का प्रबन्धकाव्यों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। वे मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य को विशेष महत्व देते हैं। उनका ऐसा विचार है मार्मिक स्थलों का जितना सुन्दर और विशद वर्णन प्रबन्धकाव्य में सम्भव है उतना मुक्तक काव्य में नहीं। वे प्रबन्ध और मुक्तक काव्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो इसके ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थलि है तो मुस्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[१] शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा में प्रबन्धकाव्य सम्बन्धी आग्रह को स्पष्ट देखा जा सकता है। वैसे तो उन्होंने उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य की भी प्रशंसा की है किन्तु जितनी आशंसा प्रबन्ध काव्य को उनसे प्राप्त हुई है उतनी मुक्तक-काव्य को नहीं, प्रबन्ध रचयिता तुलसी और जायसी के काव्य में शुक्लजी का मन अधिक रमा है जबकि मुक्तक कवि सूर और बिहारी पर उनकी कृपा-दृष्टि उतनी नहीं रही है।

५. प्रकृति प्रेम और तद्विषयक आग्रह

शुक्लजी काव्य में प्रकृतितत्व की उपेक्षा दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। प्रकृति-चित्रण को केवल उद्दीपन की सामग्री समझने वालों को वे रुचिभ्रष्ट और संस्कार-सापेक्ष बताते हैं। हिन्दी कविता के दुर्भाग्य का उल्लेख करते हुए वे कहते है—"खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्मवर्णन सहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।[१] प्रकृति के खुले विस्तार को शुक्लजी के आलम्बन रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। जिन कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का मार्मिक चित्रण किया वे शुक्लजी की दृष्टि में कुछ स्थान पा सके और प्रशंसात्मक दो शब्द उनकी लेखनी से लिखवा सके। तुलसीदासजी के प्रकृति प्रेम को लेकर शुक्लजी लिखते हैं—"हिन्दी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदास में ही।"[२]

इसी प्रकृति-क्षेत्र की उपेक्षा के फलस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना करते हुए शुक्लजी कहते हैं—"इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रख कर नहीं देखा, उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की सृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास इन्होंने नहीं किया।"[३] शुक्लजी ने कविता और सृष्टि-प्रसार को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना है। कविता में यदि प्रकृति विस्तार को प्रश्रय नहीं मिला तो उसका रचयिता कवि श्रेष्ठ कोटि में नहीं आ सकता। शुक्लजी के अनुसार तो—"कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे करले या

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २४७

१. चिन्तामणि (भाग-२) लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २२
२. गोस्वामी तुलसीदास—ले० रामचन्द्र शुक्ल पृ० १५०
३. चिन्तामणि (भाग-१ „ „ „ १६४

स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहां रहेगी।''[१]

प्रकृति के प्रति इतना रागात्मक भाव भी आग्रह की कोटि में आ जाता है और इसी आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह प्रकृति प्रेम शुक्लजी की समीक्षा-सीमा के अन्तर्गत रखा गया है।

२. नूतन काव्य-दृष्टि के प्रति असहिष्णुता

शुक्ल-समीक्षा की एक सीमा यह भी रही है कि वे नवीनता के प्रति उपेक्षा-सी रखते हैं। साहित्य में प्रचलित हो रहे नये-तये वादों, नई-नई साहित्यिक प्रवृत्तियों और शैलियों को अधिक महत्व नहीं देते। वे ऐसे क्षणभंगुर प्रवाहों को शाश्वत साहित्य के लिए दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे। आजकल चल रहे इसी रवैये की ओर संकेत करते हुए शुक्लजी कहते हैं—''काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गई है। कविता चाहे हो चाहे न हो कोई नवीन रूप या रंगढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल भरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाये तो छोड़ जाये, कविता नहीं बढ़ी की जा सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है।''[२] पाश्चात्य-साहित्य-जगत में उमड़ते और मिटते साहित्यिक वादों का भारतीय साहित्य में जो अन्धानुकरण हो रहा है, शुक्लजी ने उसकी भर्त्सना की है और उससे सावधान सचेत रहने का आग्रह किया है—''आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत-से पत्ते, कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुए—यहाँ पारिजात-पत्र की तरह दर्शित किये जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखे खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है, जिनके ये पत्ते हैं। पर ये बात हो नहीं रही है।''[३] किसी नई विचारधारा के प्रति इस प्रकार का विरोध समीक्षक को सहानुभूतिहीन दृष्टि का परिचायक है।

१. वही, पृष्ठ १४७
२. चिन्तामणि भाग-१ लेखक शुक्ल, पृष्ठ २४०-२४१
३. चिन्तामणि भाग-२ लेखक शुक्ल १६५

(अ) छायावाद एवं रहस्यवाद की आलोचना

'मानस' अवगाहन करने वाले शुक्लजी शायद छाया- एवं रहस्यवाद को भली प्रकार समझ नहीं पाये। छायावाद और रहस्यवाद को जो आशंसा शुक्लजी से अभिप्रेत थी, वह उन्हें मिल नहीं सकी। छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए शुक्लजी खीजकर कह उठते हैं—''हमारे नवीन हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में ''गांव में नया आया ऊँट'' हो रहा है। बहुत-से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौंसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत् रवीन्द्र, प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त्त स्वरूप खड़ा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले बहुतेरे ऊटपटांग चित्र खड़ा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समक्ष अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गये हैं।''[१]

छायावाद को 'ऊटपटाँग' और 'असम्बद्ध' प्रलाप कहना शुक्लजी की कठोर एवं संकीर्ण दृष्टि का परिचायक है। रहस्यवाद में जिस अज्ञात सत्ता से मिलने की आकुलता का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है, शुक्लजी उसे बकवास से अधिक नहीं समझते हैं—तभी तो वे लिखते हैं—''अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने या मुंदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौओं पर भला कविता कब-तक टिक सकती है।''[२]

शुक्लजी ने रहस्यवाद में केवल अप्रस्तुत आरोप और हृदय की लम्बी-चौड़ी उछलकूद देखी है, वे उसकी आत्मा को नहीं पहचान सके, उनकी दृष्टि ज्ञात अज्ञात को केवल एक ओट या बहाना मात्र समझ सकी। यदि शुक्लजी का

१. भ्रमरगीतसार— लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०
२. चिन्तामणि भाग-२, लेखक रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ५६

नये प्रचलित हो रहे वादों के प्रति इतना उपेक्षा का भाव नहीं होता तो शायद वे ऐसा नहीं करते—"बंगभाषा के काव्य-क्षेत्र के तो एक होने ही में इस रहस्यवाद—छायावाद की तन्त्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलासी, तालसुर पर नाचने की आदत नहीं, पर हिन्दी में तो इसकी नकल का तूफान-सा आ गया।"[1]

अपनी सीमाओं के बावजूद छायावाद-रहस्यवाद ने हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि में जो योगदान किया है उसे इस प्रकार नकार देना उचित नहीं कहा जा सकता।

'कलावाद' सम्बन्धी दृष्टिकोण

छायावाद और रहस्यवाद के समान ही कलावाद की भर्त्सना शुक्लजी ने बड़ी ही निर्ममता के साथ की है। 'कला कला के लिए' के प्रवर्त्तकों और समर्थकों पर उन्होंने बहुत ही तीखे व्यंग्य-बाण छोड़े हैं। उन्होंने नूतन रूप-सर्जना-विनायक कलावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए लिखा है—" 'कलावादी' जिसे नूतन सृष्टि कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप मात्र है। ऐसा विकृत रूप जो प्रायः कुतुहल मात्र उत्पन्न करके रह जाता है। हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गम्भीर अनुभूति नहीं जगाता।[2]

शुक्लजी कविता के माध्यम से समाज को स्वाप्निल लोक दिखाना पसन्द नहीं करते थे वरन् वे तो साहित्य को जागरण के शंखनाद का शाश्वत स्वरूप बनाना चाहते थे। यह सब उनका आदर्श था, अपनी मान्यता थी, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु अपने आदर्शों को इतनी लम्बी डोर दे देना उचित नहीं कहा जा सकता जो दुसरे दृष्टिकोणों को बांधती चली जाये, अन्य व्यक्तियों के विचारों को भलीभांति समझने में भी बाधक बन जाए। शुक्लजी की दृष्टि में—" 'कला कला के लिए' अथवा काव्य-कल्पना का लोक है"—ये सब बेल बूँटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।"[1] इन्होंने रसवाद के आग्रह में वशीभूत होकर कलावाद की उपेक्षा-सी की है। शुक्लजी की समीक्षा में शुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण कम पाया जाता है। इधर शिवं को उनकी समीक्षा में इतना अधिक स्थान मिला है कि वह सुन्दरं की सीमा बन गया है। इसके फलस्वरूप साहित्यजगत में इनके विरुद्ध एक असन्तोष जागृत हुआ, जिसने शुक्लजी की मान्यताओं को पीछे ढकेल देने का साहस किया। शुक्लजी को 'कला' शब्द से ही चिढ़-सी हो गयी थी कि वे उसे साहित्य-क्षेत्र से बाहर निकालने की बात कहने लगे—'सारा उपद्रव काव्य का कलाओं के भीतर लेने से हुआ है—इधर हमारी हिन्दी में काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसकी जड़ पकड़ना ठीक नहीं।"[2] शुक्लजी को इतना सब-कुछ कह देने पर भी चैन नही पड़ा तभी तो वे बार-बार पुरजोर शब्दों में कहते हैं—"मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहां तक हो शीघ्र छुड़ाया जाय।"[3]

अभिव्यंजनावाद और शुक्लजी

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी शुक्लजी के आदर्शों की तुला पर ठीक नहीं उतर सका। इसलिए उसे भी कटु आलोचना का सामना करना पड़ा। वे उक्त वाद की गहराई तक नहीं पहुंच सके। अभिव्यंजनावाद में शुक्लजी ने रचना-प्रक्रिया और सौन्दर्य-विधान के स्थान पर केवल वाग्वैचित्र्य और उक्ति वैचित्र्य ही देखा। जैसा कि उनके इस कथन से स्पष्ट है—"अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर

---

१. वही, पृष्ठ १०८ से १२२
२. गोस्वामी तुलसीदास—लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७८

---

१. चिन्तामणि भाग-२, लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६९
२. ,, २, ,, ,, पृष्ठ १८०
३. ,, २, ,, ,, ,, २१८

चला है; पर वाग्वैचित्र्य का हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतुहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनाने लगे तो उसमें विलक्षण-विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—'न विचारधारा, न भावों की रसधारा।'[1] उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को 'वितण्डावाद'[2] तक कह डाला।

शुक्ल-समीक्षा की एक सीमा यह भी रही है कि वे प्रायः सर्वत्र शब्दार्थ-सम्बन्ध और कल्पनाव्यापार का पर्याय मानकर चले हैं जबकि वस्तुतः ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित हैं। यदि कल्पना में समाहार-शक्ति है तो भाषा में समास-शक्ति स्वतः आ जायेगी। कल्पना के उद्‌बुद्ध होने पर भाषा में किस प्रकार जीवन-संचार होने लगता है, इसका उदाहरण स्वयं शुक्लजी की उन पंक्तियों में मिल सकता है जिनमें चिन्तन कल्पना में ढल गया है। सूरदास की समीक्षा करते समय वे लिखते हैं—"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर करील-कुन्जों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झंकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी।"[3]

वे जब-जब कल्पना अथवा भाव सौन्दर्य की बात करते हैं तो भाषा-सौन्दर्य को अलग से व्यक्त करने के प्रयत्न में जुट जाते हैं। भाषा-सौन्दर्य को वे कल्पना सौन्दर्य के सम्मुख नीचे दरजे का समझते हैं। बहुत सम्भव है कि उनके मन में भाषा चमत्कार की बात आते ही केशव का काव्य उनके कल्पना-नेत्रों के समक्ष आ जाता है। जायसी की नागमती के विरह-वर्णन में भाव सौन्दर्य की बात करते-करते वे 'संदेसड़ा' शब्द में 'ड़ा' प्रत्यय के सुन्दर प्रयोग की

१. वही, पृष्ठ ६७

२. वही, पृष्ठ १७९

३. भ्रमर गीत सार—सम्पादक, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १

बात कहते हैं। अभिव्यंजनावाद ने इसी कल्पना-सौन्दर्य और अभिव्यंजना-सौन्दर्य को एक-दूसरे से सम्बद्ध मानते हुए अपने सिद्धान्त रखे हैं।

शुक्ल-समीक्षा की अगतिकता

शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति में परिस्थिति और युगानुरूप परिवर्तन और परिवर्धन दिखाई नहीं देता। उनके समीक्षा सिद्धान्त कठोर हैं जिनमें लचक की कोई गुंजाइश नहीं। भक्ति-कालीन साहित्य के लिए उन्होंने जिस मर्यादा, नैतिकता और लोक मंगल को आलोचना—मान के रूप में स्वीकार किया, उन्हीं मानों का प्रयोग आपने रीतिकालीन और आधुनिक साहित्य की समीक्षा के लिए किया, जिसके फलस्वरूप वे रहस्यवाद और छायावाद का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सके। और तो और यदि आज शुक्लजी जीवित होते तो नयी कविता व अ-कविता और अ-कहानी को देखकर बौखला उठते। समीक्षा में ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि या तो वह युग की पथ-प्रदर्शक बने अथवा युग का वास्तविक चित्र उपस्थित करे। पहले तो शुक्लजी ने युग को अपने पीछे-पीछे चलाया, समीक्षा जगत को नये-नये आयाम दिये और नये-नये मोड़ दिये किन्तु बाद में वे स्वयं युग की दौड़ में पिछड़ गये। उनकी अपनी स्थापनाएँ इतनी हावी हो गईं कि वे उनसे हटकर देख ही नहीं सके। जब समीक्षा में 'सौन्दर्य तत्त्व' की अधिक चर्चा होने लगी तो शुक्लजी ने सौन्दर्य तत्त्व को 'मंगल तत्त्व' को ही पर्याय बताया। यही इनकी समीक्षा की अगतिकता है। वे सौन्दर्य-तत्त्व को अलग से अस्तित्त्व देना नहीं चाहते। शुक्लजी लिखते हैं—"कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य भी मंगल का पर्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (Static) सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन-क्षेत्र के बाहर खदेड़ना चाहते हैं।"[1]

कविता को जीवनोपयोगी बनाने का आग्रह उन्होंने मरते दम तक नहीं छोड़ा। कुछ सीमा तक वे स्वयं उपदेशक बन गये और उन्हें तुलसी की उपदेशात्मक वृत्ति भी अच्छी लगती थी। 'मानस' की उपदेशात्मक योग्यता को

१. चिन्तामणि भाग-२ लेखक रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ४७

लेकर वे लिखते हैं—"इसी ग्रन्थ से जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुख में धैर्य, आनन्दोत्सव में उत्साह, कठिन परिस्थिति को पार करने का बल सब-कुछ प्राप्त होता है।"[१] किन्तु बदलते हुए युग को यह उपदेशात्मक वृत्ति अतारने लगी थी, शुक्लजी ने इसकी चिन्ता न की।

एक पक्षीय दृष्टि

शुक्लजी की समीक्षाओं में बहुधा एकपक्षीय दृष्टिकोण देखने को मिलता है। वे जब-जब भावपक्ष का उद्‌घाटन करने लगते हैं, लोकमंगल का गुणगान करने बैठते हैं, तब-तब वे भूल जाते हैं कि लोक-रंजन भी साहित्य का विषय है और लोकमंगल के समान ही जीवन में महत्त्वपूर्ण भी है।[२] एकांगिता और एकपक्षीय दृष्टि को स्वयं शुक्लजी ने साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है किन्तु वे स्वयं इससे असम्पृक्त नहीं रह सके हैं। इधर शुक्लजी की समीक्षाओं का क्षेत्र अधिकतर काव्य जगत रहा है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को छोड़कर गद्य साहित्य की तो प्रायः उपेक्षा-सी की है। शुक्लजी जैसे सुधी और मूर्धन्य आलोचक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे साहित्य की विविध विधाओं पर भी प्रकाश डालते।" हिन्दी साहित्य का इतिहास पुस्तक में साहित्य की अन्य विधाओं पर भी थोड़ा बहुत शुक्लजी ने लिखा है किन्तु वहाँ अधिक विस्तार के लिए अवकाश नहीं था।

परम्परा और परिवेश की अन्तःक्रिया की उपेक्षा

शुक्ल समीक्षा में युगीन परिस्थितियों को अधिक स्थान मिला है, जबकि परम्परा की ओर कम ध्यान दिया गया है। इन्होंने अपने 'इतिहास' के कालविभाजन का आधार-साहित्य-समीक्षा के पूर्व रात्युगीन परिस्थितियों के अध्ययन को माना। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि परिवेश व परिस्थिति के साथ-साथ परम्परा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। शुक्लजी भक्ति युग के अविर्भाव के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "देश का वह नैराश्य-काल था, जिसमें भगवान के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुख भुलाया, उसका मन बदला।" शुक्लजी इसी स्थान पर चूक गये हैं। भक्ति साहित्य तो हमें संस्कृत साहित्य की धरोहर-रूप में प्राप्त हुआ है। समय-समय पर भक्ति-साहित्य भारत में लिखा गया है, इसलिए यह कहना कि नैराश्य-काल के कारण ही भक्तिकाल का प्रादुर्भाव हुआ, बेतुकी बात लगती है। साहित्य-सर्जन तो परम्परा और परिवेश को अन्तः क्रिया के फलस्वरूप होता है। इन दोनों में से किसी की भी उपेक्षा वांछित नहीं। इन दोनों तथ्यों पर समान दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है। केवल पृष्ठभूमि-निरूपण में स्थूल-ऐतिहासिकता को महत्व देना समीचीन नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः शुक्लजी द्वारा स्थूल ऐतिहासिक परिस्थिति को अधिक महत्व दिये जाने के परिणामस्वरूप ही डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परम्परा और संस्कृति का महत्व बतलाते हुए साहित्य के इतिहास का परम्परा विकास के रूप में नवरूपांकन किया है।

निष्कर्ष

शुक्ल-समीक्षा यद्यपि इतनी सीमाओं से घिरी है, उसमें अपूर्णता है तथापि हिन्दी समीक्षा उनके दाय से कभी उऋण नहीं हो सकती। जब हिन्दी समीक्षा घुटनों के बल चलने में भी अपने आपको असमर्थ पा रही थी, शुक्लजी ने उसे अंगुली पकड़कर चलाने का सफल प्रयास किया। इन्होंने हिन्दी-आलोचना को नये मान, नयी दिशा और नया ठोस धरातल प्रदान किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा के पथ को आलोकित करते हुए उन्होंने उसके राजपथ का

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ८०

२. देखिए प्रस्तुत शोध निबन्ध का "शुक्ल-समीक्षा की सीमाएं" वाले प्रकरण का "अभिव्यंजनावाद और शुक्लजी" वाला शीर्षक और विवरण।

निर्माण किया। शुक्लजी युगद्रष्टा और युग प्रष्टा समालोचक थे। इन-सा समालोचक किसी भी भाषा-साहित्य के लिए दिव्य-वरदान सिद्ध हो सकता है। उनकी स्थापनाओं की चट्टान अटूट है। कोई भी साहित्यिक दिग्गज उसे ढहाने में अपने आपको समर्थ नहीं पाता। उनके पाण्डित्य और अध्ययन-व्यापकत्व के सम्मुख सभी नतग्रीव हो जाते है। हिन्दी-समीक्षा में एक प्रकार से अनोखा आतंक-आच्छादन उनके द्वारा अनायास हो गया है। वस्तुतः शुक्लजी की सीमाएँ उनकी समीक्षा-विशेषताओं के सामसे धूमिल पड़ जाती है, गौण हो जाती है।

—:०:—

प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास-धारणाएँ

प्राचीन काव्य ग्रन्थों में प्राप्त इतिहास-लेखन के तत्व एवं स्वरूप

डॉ० गुरदीपसिंह खुल्लर
गुरुनानक कालिज,
फीरोज़पुर छावनी ।

तत्व

प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास-लेखन के तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं । प्राचीन भारतीय इतिहास चेतना, व इतिहास धारणा का एक सुनिश्चित स्वरूप, प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास-लेखन के तत्वों के अध्ययन में सहायक होगा । कालक्रमावलियां वंशावलियां, तदयुगीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन इन काव्य-ग्रन्थों में ऐतिहासिकता के तत्वों को प्रमाणित करती है ।[1]

स्वरूप

तत्वों की तरह प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में उपलब्ध इतिहास का स्वरूप नितान्त भारतीय है,[2] जो वेद-आगम आदि की दार्शनिक मान्यताओं पर आधृत हैं ।[3] इतिहास मिथकों तथा निजंधर कथाओं से इतना घुल-मिल गया था कि कई बार इनके विशिष्ट स्वरूप को पहचानना भी कठिन हो

१. देखिए—"The History of Indian Literature by Albert Waber. Translation from the second German edition by John Mann and Theodore Zariac. 6th edition, 1961, Page-183.—"We have to devide the epic poetry into two distinct groups : The Itihasa-Purans and Kavyas."

२. देखिए —Ancient Historians of India. Page 137.

३. देखिए—वही पृष्ठ १४८ ।

जाता है ।[1] प्राचीन भारत के इतिहास-मूलक काव्य अधिकाँशत: राजदरबारों से संबंधित थे ।[2] ये अधिकतर आश्रयदाता राजा, या राजकुमार की प्रशंसा करने के प्रयोजन से लिखे जाते थे ।[3] प्रशंसा करने की इस प्रक्रिया में कवि इतिहासकार केवल आश्रयदाता राजा अथवा राजकुमार की प्रसन्नता देने वाले तथ्यों एवं बातों का अभिलेख करता था तथा अन्यों को छोड़ देता था ।[4] इस प्रकार वह ऐति-

१. देखिए—(क) "A History of Indian Literature" by M. Winternitz tr. by. H. Kohm. Vol. III Fasc I. Page 74.
(ख) "Historians of Ancient India" Page 146.
(ग) "संस्कृत साहित्य का इतिहास" : कीथ पृष्ठ १८६ ।

२. देखिए—(क) "A History of Indian Literature" by M. Winternitz. tr. by M. Kohn. Vol. III. Fasc. I. Page. 69.
(ख) "Ancient Historians of Indias." Page 26.

३. देखिए—"A History of Indian Literature" M. Witernitz, tr-by H. Kohn. Vol. III. Fasc. I Page 71.

४. देखिए—(क) "संस्कृत साहित्य का इतिहास", कीथ पृष्ठ १८२—"इससे प्रतीत हैं कि उस समय जबकि उक्त सूचियां बनाई गई थीं, इनके बनाने वालों को ऐतिहासिक तथ्यों के यथार्थ अंकन की अपेक्षा प्रसन्नता देने वंशों के निर्माण द्वारा संतुष्ट करना ही अभिमत था ।"

हासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री को अपना वर्ण्य-विषय बनाने के स्थान पर आखेट, ऋतुओं, पर्वतों तथा अन्यान्य काव्य विषयों पर ही अधिक बल देता है।[१]

इस प्रकार इतिहास दरबारी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम, राजसी प्रचार का शस्त्र, तथा शूरता, नायकत्व एवं वफ़ादारी के नये सामाजिक मूल्यों के प्रचार का साधन बन गया था।[२] प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास की अभिव्यक्ति कलापूर्ण शैली में की गई, इनकी भाषा अलंकृत होती थी तथा अन्यान्य प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था। बाद के ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी महाकाव्य की कथानक रूढ़ियों को निभाया गया। स्वयंवर, दिग्विजय तथा राज्यश्री की अत्यन्त प्राचीन धारणाओं को सत्य अथवा असत्य रूप से वर्णित किया गया।[३] समस्त इतिहास लेखन का एक निश्चित स्वरूप था, जो विशिष्ट इतिहास दर्शन तथा काल दर्शन द्वारा रूपायित होता था।

(ख) Ideas of History in Sanskrit Literature". R. S. Majumdar Page 18.—"The object steadily kept in view by these authors was to enlogize, rather than to give a true and impartial account of the kings who were in most cases their patrons".

१. देखिए—"Ideas of History in Sanskrit Litrerature". R. C. Majumdar. Page 18.

२. "Ancient Historians of India". Page 26.

३. "Ideas of History in Sanskrit Literature". R. C. Majumdar. Page 18.—"the authors cared more for literary effect than a delineation of facts, and hence their work was dominated by irrelevant topics or objects of minor importance which proved more susceptible to poetic treatment and literary embellishment than dry historical facts and events".

महाकाव्य

कतिपय प्राचीन भारतीय महाकाव्य इतिहास-चेतना को स्वयं में संजोए हुए उसकी बहुमुखी अभिव्यक्ति करते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार महाकाव्य में किसी देवता, महापुरुष अथवा राजा को नायक के रूप में केन्द्र में रखकर समाज और संस्कृति का विशद् एवं काव्यात्मक वर्णन किया जाता था। चाहे अपने सामान्य रूप में ही महाकाव्य भारतीय इतिहास धारणा के अधिकाँश तत्त्वों को संजो लेता है, फिर भी कथावस्तु तथा प्रयुक्त सामग्री के आधार पर 'महाकाव्य को दो विभिन्न वर्गों में बांटा गया है—इतिहास पुराण परम्परा तथा काव्य।[१] वरदाचार्य ने रामायण तथा महाभारत को ऐतिहासिक महाकाव्यों की संज्ञा से अभिहित किया।[२] आनन्दवर्धन का संदर्भ देते हुए ए० बी० कीथ ने रामायण को महाकाव्य तथा इतिहास के बीच की कृति कहा है।[३] लगभग यही स्थिति महाभारत

१. देखिए—"The History of Indian Literature" by Albert Waber. tr. by John Mann theodore Zaric Page 183.

२. देखिए—"संस्कृत साहित्य का इतिहास" वरदाचार्य : पृष्ठ ५३, ५४। "ये महाकाव्य लौकिक भावों से युक्त होने पर भी ऐतिहासिक वातावरण में उत्पन्न हुए हैं। ये वैदिक यज्ञादि के अवसर पर गाए जाते थे।···रामायण और महाभारत ये दोनों राष्ट्रीय ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। इनमें बहुत-सी कहानियां हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि इससे पूर्व आख्यान पुराण और इतिहास थे।"

३. देखिए—"संस्कृत साहित्य का इतिहास"। ए० बी० कीथ। पृष्ठ ५४।—"आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक पृष्ठ १४८) ने महाकाव्य और इतिहास के उद्देश्यों को ठीक ही दिखलाया है; इतिहास का उद्देश्य पुरावृत्त का वर्णन होता है और महाकाव्य का आधार मौलिक रूप से वर्णन का ढंग होता है। रामायण की स्थिति बीच की है, और उसकी शैलीमूलक योग्यता भी कम नहीं है।

की भी है। यदि हम इन दोनों महाकाव्यों में इतिहास की सामग्री खोजें तो स्पष्टतः वह इन में विपुलता से उपलब्ध होगी। कालिदास का रघुवंश तथा आदि काल के रासो-काव्यों को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

रामायण

रामायण की रचना बालमीकि ऋषि ने की है। इसमें २४ सहस्त्र श्लोक हैं और यह सात खंडों में विभिक्त है।[१] इसमें राम और सीता का जीवनचरित वर्णित है। इसके अतिरिक्त उस काल की सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक धारणाओं, प्रवृत्तियों एवं संस्थाओं का विशद् वर्णन किया गया है। इसमें एक निश्चित इतिहास-दर्शन व काल-दर्शन की क्रियाशीलता, इसके ऐतिहासिक चरित्र को उद्घाटित करती है। भारतीय कालदर्शन पर आधारित मानवीय कार्यों की पाँच अवस्थाएं, राम के द्वारा फल प्राप्ति के माध्यम से अभिव्यक्त की गई हैं। इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुर्वर्ग की धारणा भी इस महाकाव्य में फल प्राप्ति के सहायक तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त की गई है।

आदिकवि बालमीकि ने राजप्रसादों, नागरिक जीवन, उपवनों, पर्वतों, चन्द्रोदय, नदियों, ऋतुओं—शरद, वर्षा, पतझड़, वन प्रदेशों, आश्रमों, सेनाओं और युद्धों तथा अन्य वस्तुओं का असाधारण वर्णन किया है।[२] यह कवि की अद्भुत वर्णन शक्ति तथा इतिहास व भूगोल के विकसित ज्ञान के परिचायक हैं। उनके लिए भूमि, राजप्रसाद, उपवन, पर्वत, नदियां, वन प्रदेश तथा आश्रम वह रंगमंच का जिस पर पात्रों ने काल-दर्शन की विविध अवस्थाओं को निभाया तथा चतुर्वर्ग की सहायता से फल प्राप्त किया।

महाभारत

महाभारत के रचयिता वेदव्यास हैं, विश्व-साहित्य के इतिहास में यह सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसमें १८ पर्व हैं तथा एक परिशिष्ट पर्व हरिवंश है। इन सबको मिलाकर इसमें एक लाख श्लोक हैं। महाभारत में पांडवों तथा कौरवों की कथा कही गई है। 'इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, देवों की वंशावली, दार्शनिक विवेचन, नीति धर्म, वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन भी है। यह मनुष्य-जीवन के उद्देश्य स्वरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति को शिक्षा देता है।"[१] यह समस्त सामग्री इतिहास-मूलक है। प्राचीन भारत में इतिहास के संबंध में जो विशद् धारणा थी, महाभारत उसका एक उदाहरण है।[२]

हरिवंश, जो महाभारत का परिशिष्ट है, ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके तीन भाग हैं (१) हरिवंश पर्व, इसमें कृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है। (२) विष्णुपर्व, इसमें कृष्ण और उनके जीवनचरित का वर्णन है। (३) भविष्य पर्व के विषय में भविष्यवाणियां हैं। हरिवंश में १६,४०० श्लोक हैं।[३] भारतीय इतिहास परम्परा में हरिवंश का महत्वपूर्ण स्थान है।

महाभारत में तत्युगीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। यह तत्युगीन भारत का एक विशद् एवं बहुमुखी चित्र उपस्थित करता है।

रघुवंश

कालिदास का रघुवंश प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में इतिहास लेखक की परम्परा का उत्तम उदाहरण है। भारतीय इतिहास-धारणा तथा काल-दर्शन का इस महाकाव्य में यथोचित निरूपण किया गया है। इसके साथ ही यह इतिहास तथा महाकाव्य के अटूट संबंध का भी प्रमाण है।

---

१. "संस्कृत साहित्य का इतिहास' वरदाचार्य : पृ० ५४
२. "संस्कृत साहित्य का इतिहास" : वरदाचार्य पृ० ६९।

---

१. वही, पृष्ठ ७३।
२. "संस्कृत साहित्य का इतिहास": वरदाचार्य, पृ० ८३।
३. देखिए—(क) "संस्कृत साहित्य का इतिहास" : कीथ पृ० ११३। "महाकाव्य का कथानक प्राचीन आख्यानों अथवा पौराणिक कथाओं से लिया जाना चाहिए और इसीलिए उसे कवि कल्पित नहीं होना

ए० बी० काव्य ने दण्डी[1] का संदर्भ देते हुए महाकाव्य का एक स्वरूप निश्चित किया है, जो इतिहास-धारणाओं के अत्यन्य निकट है, और रघुवंश इन सभी लक्षणों के अनुसार सफल महाकाव्य है। राम को केन्द्र में रखकर सूर्यवंशी ऐक्ष्वाक्[1] राजाओं के वंश के इतिहास का चित्रण किया गया है।

इस महाकाव्य में कालिदास ने युद्ध और राज्याभिषेक, स्वयंवर में एक युवती राजकुमारी के द्वारा अपने पति का चुना जाना, विवाह संस्कार, ग्राम, नगर, ऋतुएं, एक महान् दिग्वजय की घटनाएं, पृथ्वी को जीतने की इच्छा वाले एक नृपति की विजय यात्रा[2] सब कवि के नैपुण्य-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं।

स्पष्ट है रघुवंश में केवल वंशावली ही नहीं तत्युगीन भारत का विशद् सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक वातावरण अपने सम्पूर्ण रूप में उभर कर आया है। राम-

चाहिए।'''उसमें उपयोगी सन्धियां होनी चाहिएँ। सन्धियों से अभिप्राय: नाट्य-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत कार्य की उन पांच अवस्थाओं से है जिनसे इतिवृत्त की गति आरम्भ होकर, एक बार रुकने के बाद केन्द्र विन्दु पर पहुंच जाती है और फिर कुछ ठहरकर परिणाम पर जा पहुँचती है'' महाकाव्य का प्रारम्भ आशीर्वाद नमस्कार या वस्तु-निर्देश से होना चाहिए और उसे चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फलों की प्राप्ति में सहायक होना चाहिए।"

(ख) "संस्कृत साहित्य का इतिहास": वरदाचार्य पृ० १०८-१०९।

१. देखिए—"संस्कृत साहित्य का इतिहास" कीथ पृ० ११४। "ऐक्ष्वाकु का नाम ऋग्वेद में मिलता है और उनका वंश रामायण और पुराणों में विख्यात है।"

२. वही, : पृ० १५५। ए० बी० कीथ रघु की इन विजयों के 'उत्साह और वीररस से परिपूर्ण इस वर्णन में कवि के मस्तिष्क में समुद्रगुप्त की महान विजयों का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।' इन का वर्णन चतुर्थ सर्ग में किया गया है।

पुत्र कुश के शासन के पश्चात् रघुवंश की रोचकता कम हो जाती है। काव्य की दृष्टि से अरोचक होने पर भी रघुवंश का यह भाग ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है।

कल्हण : राजतरंगिणी

कल्हण चंपक का पुत्र था, जो हर्ष के दरबार में मंत्री था। उसका जन्म सन् ११०० के लगभग हुआ था।[1] उस की ऐतिहासिक कृति राजतरंगिणी इतिहास तथा काव्य दोनों दृष्टियों से अत्युच्च कोटि का था।

ए० बी० कीथ के मतानुसार, राजनीति से निवासित हो जाने पर, कल्हण ने, कदाचित् अपने आश्रयदाता अलक-दत्त[2] की प्रेरणा से, कश्मीर के फुटकर ऐतिहासिक लेखों को फिर से लिखने का विचार किया होगा। कल्हण ने समयुगीन तथा निकट अतीत की राजनीति के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, कालिदास के रघुवंश तथा मेघदूत, बाण के हर्षचरित का गहन अध्ययन किया था और स्थान-स्थान पर इनकी सामग्री का उपयोग किया है, उनमें से उद्धरण दिए हैं तथा पात्रों की तुलना की है।

तत्युगीन राजनैतिक स्थिति व कल्हण की उसके प्रति प्रक्रिया

कल्हण का युग राजनैतिक अस्थिरता, अनिश्चय तथा अविश्वास का युग था। हर्ष की मृत्यु के बाद की राज-

१. देखिए—वही, पृष्ठ १९४।

२. देखिए—"History of Indian Literature". by M. Winternitz. Vol. III Part I tr. by Subhadra Jha. Ist edition. 1963. Page 95. "एक ऐतिहासिक कृति तथा कविता दोनों के रूप में एक अट्टालिका के समान उच्च, 'राजतरंगिणी' अर्थात् 'राजाओं का प्रवाह' भारतीय साहित्य की इस प्रकार की सारी रच-नाओं से कहीं अधिक उच्च स्तर की है।"

३. "संस्कृत साहित्य का इतिहास" : कीथ, पृ० १९५। 'अलकदत्त का उल्लेख केवल मंख के 'श्रीकण्ठचरित' में ही उपलब्ध होता है, इसमें कल्हण को कल्याण कहा गया है।"

नैतिक अव्यवस्था में वह पनपा। "यह अत्यधिक संभव है कि कश्मीर के आन्तरिक संघर्ष ही एक इतिहास-लेखक के रूप में उनकी क्रियाशीलता के कारण थे।'[1] अन्मान्य राज्य-क्रान्तियों, षड्यंत्रों, विद्राहों तथा उपद्रवों का प्रत्यक्ष अनुभव करने के पश्चात् ११४९ में[2] इस महान् कविता को आरम्भ किया और अगले ही वर्ष पूरा कर दिया। राज्याश्रित होने पर भी सामान्य दरबारी कवि के आचरण के विपरीत वह तत्युगीन अथवा निकट अतीत के राजाओं के प्रति निष्पक्ष व कठोर रवैया अपनाया है।

कल्हण की इतिहास चेतना

कल्हण का ऐतिहासिक पात्रों के प्रति एक आलोचनात्मक एवं स्वतंत्र दृष्टिकोण था।[3] इसी तटस्थता एवं निर्वैयक्तिकता के कारण उसने जनता के विविध पक्षों को निरपेक्षता से देखा व परखा।

उसका इतिहास का आदर्श 'अतीत का सजीव पुनर्निर्माण' था अतीत के पुनर्निर्माण के इस कार्य को कल्हण कवि का कर्तव्य मानते थे। भारत में आरम्भिक युग से ही इतिहास लेखन का कार्य कवियों अथवा साहित्यकारों द्वारा किया जाता रहा है। भृगवंगीरस, सूत एवं मागध पुराण व इतिहास साहित्य परम्परा के ही अभिन्न अंग थे। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कविता अथवा गाथा के माध्यम से इतिहास-लेखन कल्हण की इतिहास चेतना का अभिन्न अंग था। "प्रजापति के समान, जो सौंदर्यमयी रचना सम्मुख प्रस्तुत करने में सक्षम है : कवि के अतिरिक्त कौन अतीत को मनुष्यों की आखों के सामने उपस्थित कर सकता है।"[4]

कल्हण पात्रों के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण के प्रतिपादक थे। इतिहास की घटनाओं के अध्ययन की प्रक्रिया में वे इतिहास-लेखक को एक न्यायाधीश के समान निष्पक्ष एवं निर्वैयक्तिक रूप में देखना चाहते थे। इतिहास

१. वही, पृ० १९४।

२. वही, पृ० १९६।

३. M. Winternitz. "History of Indian Literature" tr. by Subhadra Jha. Page 96.

४. "Rajtarangini" Edited by M.A. Stain (1.4).

खोज की प्रक्रिया में वे रागद्वेष-मुक्त मस्तिष्क को ही उचित समझते थे।[1]

लेखन विधि

कल्हण की इतिहास के संबंध में धारणा अत्यन्त परिष्कृत, और लगभग आधुनिक थी। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में एक विशिष्ट इतिहास-चेतना थी। कल्हण इतिहास के असंबद्ध मस्तिष्क द्वारा अतीत के सजीव पुनर्निर्माण की इतिहास-धारणा को लेकर इतिहास-लेखन के कार्य में प्रवृत्त हुआ।

कल्हण ने अपने से पूर्व-लिखित लगभग समस्त ऐतिहासिक कृतियों का अध्ययन किया।[2] उनकी सामग्री का उपयोग किया और उनमें से उद्धरण दिए। इन कृतियों का पुनर्मूल्यांकन तथा आलोचना भी की। इसके लिए कल्हण ने मौलिक सामग्री अर्थात् शिलालेख, प्रशस्ति-पत्र, दस्तावेज़ तथा सिक्कों आदि का गम्भीर अध्ययन किया। इस प्रकार कल्हण की इतिहास-लेखन-विधि लगभग आधुनिक इतिहास-खोज के समकक्ष थी।

ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं की खोज की प्रक्रिया में वैज्ञानिक निर्वैयक्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण रखने पर भी कल्हण अपने निर्णयों के प्रस्तुतीकरण को काव्यात्मक एवं अलंकृत रूप में प्रस्तुत करने के पक्ष में थे। आर० सी० मजूमदार के अनुसार कल्हण की यह धारणा भी अत्याधुनिक इतिहास-चेतना के अनुरूप है।[3]

पहले तीन अध्यायों में अधिकांशतः मिथक व निजंधर परंपराओं से सामग्री ग्रहण करने के कारण उनमें ऐतिहा-

१. Ibid (1.7) "वही गुणवान् लेखक प्रशंसा का पात्र है, जिसके शब्द, एक न्यायाधीश के समान, अतीत की घटनाओं का प्रकाशन करते समय रागद्वेष से मुक्त हों।"

२. देखिए—(क) 'Ideas of History in Sanskrit Literature." by R. C. Majumdar. Page 20-21.

(ख) "संस्कृत साहित्य का इतिहास" कीथ, पृष्ठ १९५।

३. देखिए—"Ideas of History in Sanskrit Literature." Page 23.

सिकता की दृष्टि से अन्यान्य त्रुटियां रह गई हैं, अन्यथा कल्हण की इतिहास-धारणा, इतिहास-चेतना तथा लेखन-विधि अत्यन्त परिष्कृत तथा लगभग आधुनिक थी।

नाटक

महाकाव्य के समान भारतीय इतिहास चेतना की अभिव्यक्ति नाटकों के माध्यम से भी की गई। इस प्रकार नाटक अतीत के पुनर्निर्माण का एक माध्यम था। 'नाटक तथा इतिहास इतने निकट-संबंधित थे कि कुछ साहित्यिक आलोचकों ने मध्यरंभिक युग में भी दोनों को अतीत का ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन समझा।[१] कई बार एक ऐतिहासिक विषय नाटक के साथ अत्यन्त मिलता-जुलता हो सकता है, तथा उन दोनों को साहित्यिक तकनीक भी अक्सर एक-सी होती है।[२] प्राचीन नाटकों में, चतुर्वर्ग के माध्यम से फलागम की प्राप्ति द्वारा रूपायित, कार्य-व्यापार की पांच अवस्थाओं पर आधारित काल-दर्शन द्वारा ही घटनाओं के घटित होने का क्रम निर्धारित किया जाता था। यह इतिहास-चेतना के भारतीय स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है।

१, "Ancient Historians of India" : Page

२. "The Problem of History and Historiography by. V. V. Joshi. 1946. Page 15.

— :o: —

दर्शन कुमार जैन
हिन्दी विभाग,
वैश्य कॉलेज, भिवानी ।

भारतीय रंगमंच : दिशा की खोज में

किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र में रंगमंच का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। क्योंकि रंगमंच ही वह सशक्त एवं सफल माध्यम है जो राष्ट्र की साँस्कृतिक धरोहर, परम्परा और धारणा को न केवल जीवित रखता है अपितु उसे समय-समय पर प्रदर्शित कर देशवासियों को परिचित भी करवाता रहता है। फिर भारत जैसे देश में जहां निरक्षरता का साम्राज्य है, और प्रकाशित शब्द का संचार अभी संतोषजनक नहीं है, वहाँ इसका दायित्व और भी बढ़ जाता है । अतः प्राचीन धारणाओं को जीवित रखने, निरक्षर जनता को शिक्षित करने, उसमें एक नवीन चेतना जाग्रत करने और देश में हो रहे व्यापक परिवर्तनों से परिचित कराने में इसे एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

दूसरे, आज जबकि चलचित्र का प्रभाव हमारे जीवन में बढ़ता जा रहा है, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम भारतीय रंगमंच की दिशा की खोज नए बिन्दु से करें ताकि जहाँ यह भारतीय जनता का प्रतिनिधि बन सके वहाँ चलचित्र के बढ़ते प्रभाव को रोक सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम भारतीय रंगमंच को परिवर्तित मूल्यों के अनुरूप बनाएँ और प्राचीन और नवीन रंगमंच की श्रेष्ठ प्रवृत्तियों को ग्रहण करें। प्राचीन और नवीन का यह संश्लेषण निश्चय ही भारतीय रंगमंच को एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर करेगा। आइए, हम भारतीय रंगमंच का अध्ययन उसके मूल बिन्दु से आरम्भ करें।

संस्कृत रंगमंच

भारतीय रंगमंच का मूलबिन्दु संस्कृत रंगमंच है अतः इसे दृष्टिविगत नहीं किया सकता। इसके दो कारण प्रमुख हैं। प्रथम तो संस्कृत रंगमंच भारत का प्राचीन रंगमंच है जिसका दसवीं शताब्दी तक निरन्तर विकास हुआ है और दूसरे संस्कृत-नाटक-साहित्य में बेजोड़ है। अपने समृद्ध साहित्य से विच्छिद होना कोई भी व्यक्ति पसन्द नहीं करेगा। इस रंगमंच का उत्थान भारत की दूसरी भाषाओं में किया जा सकता है। इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए कि सामाजिक नाटककार एवं प्रोड्यूसर इससे कुछ सीख सकते हैं अथवा नहीं। पर इतना अवश्य है कि इससे प्रयोग के क्षेत्र तो अवश्य ही विस्तृत हो सकते हैं।

संस्कृत नाटक का प्रमुख उद्देश्य दर्शक को रसात्मक स्थिति तक पहुंचाना रहा है और यही इसकी प्रमुख प्रवृति है। संस्कृत नाटक में तनाव या द्वन्द की अपेक्षा रस पर अधिक बल है । 'मृच्छकटिक' को छोड़कर शेष नाटक-साहित्य में रस की ही प्रधानता है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में कथावस्तु और चरित्र गौण रूप में रखे गये हैं। शब्द जाल का मोह अधिक है। यहाँ तक कि नृत्य और संगीत जैसे बाह्य उपकरणों को भी रस के सहायक रूप में स्वीकार किया गया है। भाषा की संरचना में नाटकीयता का अभाव है। भास के 'वासवदत्ता' से लेकर भवभूति के 'उत्तर रामचरित' तक कुछ एक 'मृच्छकटिक' जैसे अपवादों को छोड़कर, सभी में नाटक की सक्रियता का अभाव है। इन नाटकों के पात्र तनाव और द्वन्द में नहीं रहते अपितु भावों की गहराई में डूबते-उतराते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत-नाटक जोकि काव्य का ही रंगमंचीय संस्करण था, का पुनरुत्थान आज के युग में ठीक नहीं लगता। न तो आज का दर्शक नाटकीय स्थितियों में कविता पाठ को पसन्द करता है और न ही वह

काल्पनिक पात्रों के बीच रहना चाहता है। अतः आज की परिवर्तित स्थिति में संस्कृत रंगमंच का उत्थान केवल प्रयोग-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए ही किया जा सकता है। फिर भी इस पारस्परिक रंगमंच को हम एकदम त्याग नहीं सकते अतः इस रंगमंच को नवीन रंगमंच की पृष्ठ भूमि में रखा जा सकता है।

लोक-रंगमंच

संस्कृत रंगमंच के पश्चात् भारत का दूसरा रंगमंच लोकनाट्यों का है। इसके अन्तर्गत कर्नाटक का यक्षगान, महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भवाई, उत्तर भारत की रासलीला, रामलीला और नौटंकी, बंगाल की जात्रा, हरियाणा का सांग तथा राजस्थान का ख्याल और गवरी इत्यादि आ जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक लोक-नाट्य की अपनी विभिन्नता है तो भी सभी की प्रकृति अनिवार्यतः क्रियात्मक है, उनके प्रस्तुतीकरण में नवीनता है और बाह्य सहायता की ओर झुकाव अपेक्षाकृत कम है। पर्दे का प्रयोग कम होने के कारण इनके पास असीमित स्थान और असीमित आयाम का विशेषाधिकार है जो घटनाओं के फैलाव में विशेष सहायता प्रदान करता है।

वस्तुतः लोकनाट्य ही भारत में सर्वाधिक लचीला नाट्य रूप है जो सामाजिक प्रतिभा की उपज है, शास्त्र-विहीन होकर भी पूर्णतः शास्त्र संगत है। इनकी पृष्ठ भूमि में लोकधर्म और लोक विश्वास रहते हैं। लोक विश्वासों को प्रदर्शित करना ही इनका उद्देश्य रहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह स्थानीय शब्दों, अलंकारिक शैली, ग्रमीण नृत्य तथा गीत का प्रयोग सहर्ष करते हैं। इनके पात्र विशिष्ट होते हैं जिन्हें किसी पूर्वाभ्यास, प्रवीणता या प्रशिक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इनमें गेय तथा नर्तेय गुणों की प्रधानता एवं अभिनय गुणों की न्यूनता होती है। ऊँच-नीच का भेद नहीं होता। नग्नता तथा अश्लीलता के प्रसंग इनको निखारने में सहायक होते हैं। टिप्पणीकार का प्रयोग कथावस्तु में एकता बनाए रखने के लिए किया जाता है। फिर भी, इन नाटकों से किसी सशक्त नाट्कीय बिम्ब का प्रस्तुतीकरण नहीं होता।

क्योंकि इन नाटकों में नाटक की अपेक्षा पद्यबद्ध शैली पर अधिक बल दिया जाता है। अतः इन्हें नवीन रंगमंच का आधार मानना कठिन है। गेय एवं नर्तेय गुणों की प्रधानता, समूहगान, स्थानीय शब्दों का प्रयोग तथा पद्यबद्ध शैली के कारण ही इन्हें कला का आधार मान लेना ठीक प्रतीत नहीं होता। यह न तो निश्चित रूप से नाटक हैं और न ही रंगमंच की दिशा खोजने में विशेष सहायता कर सकते हैं। जो दो-चार प्रयोग इस दिशा में हुए हैं, वे किसी सफल नाटकीय बिम्ब का निर्माण नहीं कर सके अतः कहना होगा कि लोक-नाट्य केवल कच्चा माल ही प्रस्तुत कर सकता है।

पारसी रंगमंच

पारसी रंगमंच भारत का तीसरा रंगमंच कहा जा सकता है। इसकी स्थापना प्लासी के युद्ध के पश्चात् हुई। श्री वीरेन्द्र नारायण सक्सैना के शब्दों में, "पारसी रंगमंच उस समय एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी अतः यह पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। इस रंगमंच में श्री हबीब तनवीर के अनुसार तीन शैलियों के तत्व थे—एलिज़ाबेथन नाटक, लोकनाट्य तथा फ्रांसीसी आॅपेरा। लेकिन व्यावसायिक रंगमंच होने के कारण यह अपने पाँव अधिक देर तक न जमा सका।

डा० जयनाथ नलिन ने पारसी नाटकों का विश्लेशण करते हुए कहा कि इन नाटकों के अभिनय, गीत, संगीत तथा कला में अतिवादिता थी। डा० नलिन का यह विश्लेषण भी अतिवादी है, क्योंकि सभी नाटक ऐसे नहीं थे और दूसरे आज जबकि हम लोकनाट्यों के प्रति विशेष मोह रखते हैं तो कोई कारण नहीं कि पारसी नाटकों को अतिवादितापूर्ण कह कर छोड़ दिया जाए। क्या नौटंकी और एक पारसी नाटक में कोई विशेष अन्तर है जो हम नौटंकी से तो मोह रखें पर पारसी नाटक को दृष्टिविगत ही कर दें। पारसी नाटक समय की उपज थे। इन्होंने नाटकों के कथानकों को बदला और हिन्दी को एक रंगमंच दिया।[1] अतः इनका निषेधात्मक मूल्य नहीं आंका जा सकता।

यद्यपि भारतेन्दु पारसी नाटकों के विरोध में उठे थे तो भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से स्वयं भारतेन्दु भी नहीं मुक्त हो सके। भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक में पारसी-शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पारसी नाटकों ने हिन्दी को

---

१. हिन्दी नाटक पृ० १८, डा० बच्चन सिंह।

एक रंगमंच दिया, उसके लिए एक रूपरेखा तैयार की। आज का हिन्दी रंगमंच चाहे कितना ही पारसी रंगमंच से मुक्त होने का दावा करे पर सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। आज जो रंगमंच हमारे पास है, चाहे वह विभिन्न पड़ावों से गुजरा है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर पारसी रंगमंच का प्रभाव ही नहीं है। वस्तुतः पारसी रंगमंच ही हिन्दी रंगमंच के मूल में परिष्कृत रूप में विद्यमान है।

आधुनिक रंगमंच

आधुनिक रंगमंच यद्यपि संस्कृत रंगमंच, लोक-रंगमंच तथा पारसी रंगमंच के विशिष्ट गुणों का संश्लेषण है तथापि भारत का आधुनिक रंगमंच आन्दोलन पाश्चात्य सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रतिक्रिया और परिणाम है। भारतीय, रंगमंच के प्रति क्यों जागरूक हुए? इसके दो कारण हैं। प्रथम तो अंग्रेजों ने अपने नाटकों का प्रदर्शन किया तथा दूसरे भारतीय नाटकों की आलोचना की। अतः यह रंगमंच आन्दोलन चार क्षेत्रों में पनपा। देशी राजाओं के दरबारों में, व्यावसायिक बुद्धि के लोगों में, नयी चेतना से युक्त नवशिक्षित वर्ग में तथा नवनिर्मित शिक्षा संस्थाओं में। इन चारों क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों ने उत्साहपूर्वक इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

रंगमंच आन्दोलन तो आज काफी आगे बढ़ चुका है। लेकिन भारतीय रंगमंच को अभी निश्चित दिशा की खोज है। इसके लिए आवश्यक है कि हम विश्व के रंगमंच की ओर दृष्टि डालें और उपयोगी बातों को ग्रहण कर भारतीय रंगमंच को नवीन दिशा दें।

पाश्चात्य रंगमंच

पारम्परिक रंगमंच को आधुनिक रंचमंच से मिलाने के प्रयत्न केवल भारत तक ही सीमित नहीं हैं। यह प्रक्रिया जापानी, इन्डोनेशियाई आदि अन्य रंगमंचों पर भी हो रही है। इग्लैण्ड में 'फ्री थियेटर' की बात चल रही है। नए प्रयोग सोवियत संघ में हो रहे हैं और यहां तक कि आज की रंगमंच की प्रवृति संश्लेषणात्मक होती जा रही है जिसमें नाटक, संगीत, नृत्य, पेंटेमाईम तथा सिनेमा का सक्रिय सहयोग है।

विश्व की इस रंगमंचीय प्रवृति को क्या भारतीय रंगमंच में नहीं लिया जा सकता? संगीत, नृत्य का प्रयोग त। पहले भी यहां नाटक में किया जाता रहा है तो क्या चलचित्र का सहयोग नहीं लिया जा सकता? क्या चलचित्र जैसी विकसित कला से प्रेरणा नहीं ली जा सकती? फिल्म-कला की भाँति नाटक भी एक सामूहिक कला है अतः फिल्मकला की वैज्ञानिक और सूक्ष्म टेकनीक को नाटक में अपनाया जा सकता है और स्वर्गीय श्री बलराज साहनी के शब्दों में यदि नाटक में मेहनत और ध्यान हो तो नाटक भी फिल्मों को पीछे छोड़ सकता है। नाटक निःसन्देह आगे बढ़ सकता हैं यदि यह परम्परा से हटे और विश्व की नवीन प्रवृत्तियों को ग्रहण करे।

इसके अतिरिक्त इब्सन, शॉ, ब्रेख्त, चैखव के जिन नाटकों में नवीन मूल्य, बोध की स्थापना की गई है, उनका अनुवाद हमारे नवीन सामाजिक ढांचे के अनुरूप किया जाना चाहिए। क्या इस प्रकार का विचार भारतीय रंग-मंच की नवीन दिशा की खोज में उपयोगी नहीं है?

एक और कठिनाई ने हमारे रंगमंच में एक अवरोध उत्पन्न कर रखा है और वह है भाषा का प्रयोग। हमारे नाटककार अपने नाटकों में साहित्यिक भाषा का अधिक प्रयोग करते हैं जो तात्कालिक प्रभाव को नष्ट कर देती है। नाटकों की भाषा अधिक साहित्यक न होकर नाटकीय होनी चाहिए क्योंकि नाटक उपन्यास या कहानी नहीं है जिसे पुनः पढ़ा जा सके।

फिर हमारे पास अभी तक अच्छे नाटक भी संख्या में कम हैं जिन्हें मंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत किया जा सके। अतः हमारे नाटककारों को अच्छे नाटकों के सृजन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक उपरोक्त बातों की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक न तो भारतीय रंगमंच का कोई निश्चित रूप बन पायेगा और न ही यह भारतीय जनता का प्रतिनिधि बन सकेगा। यदि हम निश्चय ही भारतीय रगमंच को एक नवीन दिशा और नवीन मुहावरा देना चाहते हैं तो हमें निःस्वार्थ भाव से इस ओर अग्रसर होना होगा? क्या मेरा यह विचार साकार होगा?

—: o :—

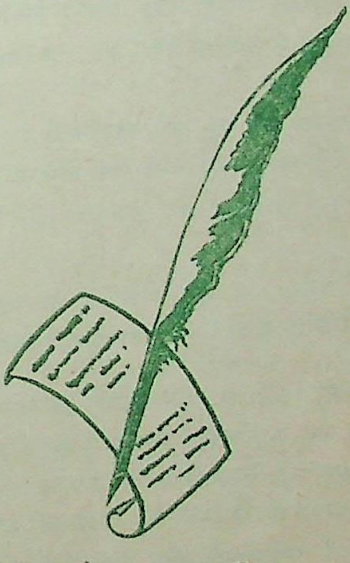

हस्तलेख-परिचय

डॉ० हिम्मत सिंह जैन
साहित्य कलिका,
६६, जैन गली,
हिसार, हरियाणा

दो महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ

(१) रत्न कुँवरि बाई विरचित 'प्रेमरत्न'

कवि परिचय

ग्रन्थ के अन्तर्साक्ष्य से केवल दो तथ्यों का ज्ञान होता है। कवि ने ग्रन्थ की रचना काशी में की[1] तथा कवि का उपस्थिति काल सं० १८४४ है क्योंकि उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल यही सम्वत् है।[2] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अध्ययन से कवि का नाम तक स्पष्ट नहीं होता। ग्रन्थ के अन्त में केवल एक पंक्ति कवि के नाम की छाप की प्राप्त होती है—

लीला रस की खान, प्रेम रतन गायो रतन।[3]

परन्तु 'रतन' शब्द भ्रमात्मक है इससे रत्नदास का बोध भी हो सकता है तथा रत्न कुँवरिबाई का भी। अतः यह साहित्य जगत् में विवादास्पद विषय बन गया है। भली प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रत्नकुँवरिबाई की ही रचना है। श्री शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने लिखा है कि "हमने अपनी दादी बीबी रत्नकुँवरि का बनाया हुआ यह प्रेमरत्न ग्रन्थ छपवाने का उद्योग किया है। वह संस्कृत में बड़ी पंडिता थी।" यह विश्वास नहीं होता कि शिवप्रसाद सितारे-हिन्द को अपनी दादी के रचित ग्रन्थ के विषय में पूर्ण ज्ञान न हो। इसके अतिरिक्त ना० प्र० सभा वाराणसी के खोज विवरणों में भी इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम रत्नकुँवरिबाई स्वीकृत किया गया है।[1]

स्वरूप तथा सामान्य परिचय

इस ग्रन्थ की कई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनमें से एक प्रति राजकीय संग्रहालय इलाहाबाद में विद्यमान है। कई वर्ष पूर्व इसका मुद्रण मुन्शी नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से हुआ था। इस समय प्रकाशक के पास कोई प्रति शेष नहीं है।

ग्रन्थ के आरम्भ में श्रीकृष्ण तथा गुरू की वन्दना की गई है। अन्त में फलश्रुति तथा रचनाकाल वर्णित है। इस में कुल ३६८ चौपाई, १८४ दोहे तथा १६ सोरठे हैं।

प्रबन्ध सौष्ठव

साहित्य क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिकाओं का संयोग तथा वियोग चित्रण अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है परन्तु चिर-

---

१. काशी नाम सुठाम, धाम सदाशिव को सुखद, तीरथ परम ललाम। शुभग मुक्तिवर दान छम।
ता पावन पुर मांहि, भयो जनम या ग्रन्थ को।
महिमा वरणि न जांहि, सगुण रूप यश रस भर्यो॥
(प्रेम रत्न पृ० ६६)

२. अठारह सै चालीस, चतुर वर्ष जब व्यतीत सब।
विक्रम नृप अवनीश, भये भयो यह ग्रन्थ तब॥
(प्रेम रत्न पृ० ६७)

३. वही पृ० ६६।

---

१. "इनके प्रेमरत्न का विवरण पहले भी लिया जा चुका है। अन्तिम दो खोज विवरण में रचयिता का नाम रत्नदास माना गया है जो सन्देहजनक है·· उपर्युक्त अन्तिम खोज विवरण में इस ग्रन्थ की दो प्रतियों का उल्लेख है जिनमें से दूसरी प्रति की पुष्पिका में रचयिता का नाम बीबी रतनकुँवरि दिया है: अतः रचयिता का वही वास्तविक नाम है।"
(विवरण सन् १९२९)

वियोग के पश्चात् संयोग के कठिन काल का चित्रण करना प्रत्येक कवि के वश की बात नहीं। प्रेमरत्न में ऐसी ही घटना को काव्य विषय बनाया गया है। राधा व गोपियाँ चिरकाल तक विरहाग्नि में संतप्त रहीं, इसके पश्चात् उन्हें कुरुक्षेत्र में कृष्ण मिलन हुआ। इसी घटना को काव्य में प्रमुखता प्रदान की गई है। इससे पूर्व की कथा संक्षिप्त रूप में केवल दो पृष्ठों में कही गई है। परन्तु इस छोटी-सी घटना का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि इसके द्वारा गोपियों का सम्पूर्ण प्रेम, नन्द-यशोदा का सम्पूर्ण स्नेह, कृष्ण का मानवीय तथा भगवत् रूप पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है। अन्य किसी कृष्ण सम्बन्धी कवि ने केवल इस घटना को लेकर इतना विस्तृत ग्रन्थ रचने का साहस नहीं किया।

गोपी जीवन की एक घटना का अति विस्तृत रूप में वर्णन करने पर भी कवियित्री ने इसके माध्यम द्वारा शेष जीवन की कथा को सुश्रृंखलित तथा सुनियोजित ढंग से पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया। उसने कथा के अरुचिकर प्रसंगों को शीघ्र ही बन्द कर दिया है तथा भावपूर्ण स्थलों की उचित योजना की है। उदाहरणस्वरूप यज्ञ आदि का विवरण सीमित पंक्तियों में किया गया, जबकि गोपियों के प्रेमभाव को स्पष्ट करने के लिए भेंट स्थल का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया।

गोपी-प्रेम की उक्त कथा भागवत पुराण के उत्तरार्द्ध के ३२वें अध्याय में वर्णित है परन्तु कवियित्री ने अपनी रुचि तथा सूझ-बूझ के अनुसार कथा की घटनाओं को अनेक स्थानों पर नया मोड़-तोड़ दे दिया है। गोप द्वारा कृष्ण का डेरा खोजना, कृष्ण द्वारा उसका स्वागत, राधा व सत्यभामा का संवाद, रात्रि समय राधा का गर्म दूध पीना तथा कृष्ण के पाँव में छाले होना आदि प्रसंग भागवत पुराण में वर्णित नहीं हैं। कृष्ण द्वारा ब्रज की पूर्व घटनाओं को स्मरण करना, राधा का भूमि में समाना, तथा कृष्ण राधा का ब्रजविहार आदि कवियित्री-कल्पना-प्रसूत प्रसंग हैं। भागवत पुराण के उक्त अध्याय में नन्द-यशोदा के स्नेह को अधिक महत्व प्रदान किया है परन्तु प्रेमरत्न में राधा व गोपियों के प्रेम को प्रमुखता प्राप्त है। अत: कवियित्री ने कथा की रूपरेखा भागवत पुराण से ग्रहण करके भी इसमें रंग स्वयं भरा है तथा डिजाइन अपनी रूचि के अनुसार बनाया है।

चरित्र-अंकन

काव्य के नायक हैं कृष्ण तथा नायिका है राधा। राधा के सहयोग के लिए अनेक गोपियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त नन्द, यशोदा, देवकी, वसुदेव, अनेक गोप आदि अन्य पात्र हैं। कवियित्री को इनके चरित्र-अंकन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

कृष्ण—इसमें कृष्ण का दोहरा व्यक्तित्व चित्रित है। कोमल हृदय के प्रेमी जीव के रूप में तथा ईश्वर रूप में। कृष्ण का कोमल हृदय पाठक के सम्मुख उस समय आता है जब वह ब्रज के बीते समय तथा राधा के प्रेम के विषय में सोच-सोचकर अधीर हो जाता है।

यात्रा-वर्णन—ग्रन्थ में द्वारिका से कुरूक्षेत्र तक की यात्रा का वर्णन है। कवियित्री ने इसका सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

अगणित तुरंग चले हिहिनावत,
खच्चर सहस ऊंट अररावत।
चौपालन सुखपाल पालकी,
डोली अरु चराडोल नालकी॥
अमीत भीर मग परत न पायो,
भूरि धुन्ध नभ मण्डल छायो।
मग में होत कोलाहल भारी,
मुदित करत कौतुक नरनारी॥[1]

रूप-वर्णन—भक्त कवियों ने कृष्ण की सुन्दरता का विस्तृत वर्णन किया है। प्रेमरत्न में एक ओर "मुख मूछन की रेख सुहाई, देखि-देखि जननी बलि जाई"[2] आदि रूप वर्णन अन्य कवियों से भिन्न रूप में किया हैं दूसरी ओर परम्परागत उपमानों द्वारा नखशिख वर्णन भी प्रस्तुत किया है परन्तु उसमें भी कुछ नवीनता दृष्टिगोचर होती है—

नासा शुक सुन्दर लसत, अधर बिम्ब फल हेत।
पहुँचत नहिं ललचात जनु, अति अद्भुत छवि देत॥[3]

---

१. वही, पृ० ७
२. ,, ,, २३
३. ,, ,, ३७

प्रकृति-चित्रण—कृष्ण के तरुणावस्था सम्बन्धी प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति-चित्रण को अधिकतर स्थान प्राप्त नहीं हुआ है परन्तु रत्नकुँवरि बाई का ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट हुआ है। उसने यमुना तट का वर्णन निम्न शब्दों में किया—

वेई बरही नटत कर कूकत काकिस कीर।
वे मराल कलरव करत ये यमुना के तीर ।।
वे खगमृग बोलत विविध, बहत त्रिविध सुसमीर।
प्रफुल्लित वे कौरव कमल, वे तरंग वे नीर ।।[1]

रस-परिपाक—प्रेमरत्न नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ का प्रमुख रस शृंगार है। कहीं-कहीं वात्सल्य रस की छटा भी छिटकती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

ग्रन्थ में संयोग तथा वियोग के परस्पर मिलते हुए छोर चित्रित हैं। एक ओर वियोग की काली रात्रि व्यतीत हो रही है, दूसरी ओर संयोग के नवीन प्रभात का उदय हो रहा है। प्रेमी जीवन में ये अमूल्य क्षण होते हैं। इस समय प्रेमी-प्रेमिका को केवल आनन्द की अनुभूति नहीं होती, अपितु उन्हें सुख-दुख की मिश्रित वेदना प्रतीत होती है—

नीलाम्बर दुखत वदन, संकुचन अतिहि सशंक।
मनहुं घनांतर लसत छवि, षोडश कला मयंक ।।[2]

दूसरी ओर यशोदा के स्नेह में वात्सल्य रस की बूंदें टपकती हैं—

लखि-लखि यशुमति तन सुख दानी,
दृग सरोज भरि डारत पानी।
वारेपन की सब सुधि आई,
जैसे कनिया बैठत जाई ।।[3]

भाषा-शैली

ग्रन्थ में ब्रजभाषा का सरल रूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इनकी भाषा के मधुरता तथा कोमलता विशिष्ट अंग हैं। माधुर्य गुण सर्बत्र विद्यमान है। कर्णकटु शब्दों का पूर्ण अभाव है—

१. प्रेमरत्न पृष्ठ ६५।
२. वही पृ० २६।
३. वही, पृ० २३।

गैयन की गति श्याम लखि, लीन्ही भरि अंकवारि ।।[1]

इसमें कुछ प्रचलित तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जैसे जलज, लोचन, अरुण, मंजु, दशन, मम आदि।[2] इसके साथ-साथ कुछ देशज शब्द भी प्रयुक्त हैं—छोह, खोंसे, लटपट, पाग, थंमत आदि।[3] उर्दू भाषा के दो शब्द खोज तथा लसकर ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं[4] तथा पंजाबी भाषा का इक शब्द मिलता है।[5] साधारण रूप में प्रचलित धार्मिक शब्दावली भी इसमें प्रयुक्त है।

एक दो स्थान पर तुक आग्रह के लिए बाता अनन्ता, भगवन्ता[6] आदि शब्द अकारान्त के स्थान पर आकारान्त बना दिए गए हैं। मुहावरों के प्रयोग के द्वारा भाषा में स्वाभाविकता आ गई है। क्योंकि ग्रामीण नारियाँ मुहावरों का वार्तालाप में अधिक प्रयोग करती हैं। एक पन्थ द्वै काज, प्राणन के प्यारे, त्योरी चढ़ाना, लाख बात की बात आदि लोकोक्ति तथा मुहावरे प्रेमरत्न में प्रयुक्त हैं।[7]

छन्द-विधान

प्रेमरत्न में केवल तीन छन्दों का प्रयोग किया गया है। दोहा, सोरठा, तथा चौपाई। छन्दों का क्रम निश्चित है। प्रत्येक स्थान पर ८ दोहे के पश्चात् १६ चौपाई आई हैं, सोरठे ग्रन्थ के आदि और अन्त में हैं। कवियित्री ने छन्द संख्या भी अंकित की है जिसमें सोरठों की संख्या १६ बताई है।[8] परन्तु वास्तव में १७ सोरठे मिलते हैं। स्पष्ट है इनमें से एक सोरठा जाली है।

सब छन्दों की मात्रा संख्या काव्य-शास्त्र के नियमानुसार है। केवल निम्न दोहे में एक-दो मात्रा का हेर-फेर मिलता है :-

१. प्रेमरत्न पृ० २६।
२. वही, पृ० ७, १०, ३७ तथा ५३।
३. वही पृ० ७, १०, ११, १६।
४. वही, पृ० ११ व १२।
५. वही, पृ० १४।
६. वही, पृ० ७ व ६२।
७. वही, पृ० ६, १२, २०, ६०।
८. कह्यो ग्रन्थ अनुमान, त्रयसत अरसठ चौपाई।
तिहि अर्द्धस अठ जान, दोहा सोरह सोरठा ।।
(प्रेमरत्न पृ० ६६)

कारण करण अनन्त गुण = १२ करिय सकल उद्धार = १०
हरिय नाथ धरणी गरुव = १३ धरिय मनुज अवतार = ११[१]

अलंकार-योजना

कवियित्री ने काव्य अलंकरण के प्रति पर्याप्त रुचि दिखाई है। अतः ग्रन्थ में अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। परन्तु कहीं भी अलंकार बोझ बन कर नहीं आए अपितु इनसे काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई है। भाव तथा कला का उचित सम्मिश्रण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थ में निम्न अलंकारों का अधिक प्रयोग किया गया है :

अनुप्रास

राज साज साजे सकल, जिमि तिमि नहिं नेकु सुहाहिं।[२]
इत उत चमकत चकित चित चितवत श्रवण उठाय ॥[३]

पुनरुक्ति प्रकाश—सुनत परस्पर सब नर नारी,
घर-घर निज-निज सौज सँवारी।[४]

विप्सा— गुंज माल हित फिरत कन्हाई,
मांगत सौ-सौ हा-हा खाई।[५]

१. वही, पृ० ५।
२. वही, पृ० ८।
३. वही, पृ० २६।
४. प्रेमरत्न पृ० १०।
५. वही, पृ० १४।

यमक— कृष्ण नाम सुख मूल,
कलिमल दुख भजत-भजत।[१]

अर्थालंकार :

उपमा— प्रेम रहित नर सोहहिं कैसे,
बाग विचित्र वृक्ष बिनु जैसे।[२]

उत्प्रेक्षा— वेणी सोहत पीठ ललामा,
मनु रवि ग्रहि को करत प्रणामा।[३]

प्रतीप— शीश किरीट क्रांति की शोभा,
लाजत कोटि अदिति की ओभा।[४]

रूपक— चन्द्र बदन दोऊ वीर निहारी,
चित चकोर व्रज जन बलिहारी।[५]

दृष्टांत— लोन बिना भोजन निरस,
प्रेम हीन नर नेम।[६]

विषम— भव जलनिधि के शोषन हारे,
नयन नीर नहि सकल सम्हारे।[७]

१. वह, पृ० ६६।
२. वही, पृ० ५८।
३. वही, पृ० ३३।
४. वही, पृ० ३७।
५. वही, पृ० ३०।
६. वही, पृ० ६०।
७. वही, पृ० १६

(२) तीन सौ वर्ष पूर्व का प्रसिद्ध रुक्मिणी-मंगल

कवि परिचय (मेहरचन्द)

कवि का उपनाम द्विजदास था। ये नागर ब्राह्मण थे। ये शाहगंज निवासी थे। इनका कविता काल सं० १७१९ था।[1]

स्वरूप तथा सामान्य परिचय

ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति ना० प्र० सभा वाराणसी में सुरक्षित है।[2] पुस्तक की पत्र संख्या ३७ है। इसके आरम्भ में गोविंद, गौरी, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की वन्दना की गई है तथा अन्त में फलश्रुति तथा संक्षिप्त कवि परिचय वर्णित है। कथा का विभाजन सर्गों में नहीं किया गया।

प्रबंध-सौष्ठव

रुक्मिणी मंगल की कथा सुगठित तथा सुनियोजित है। इसकी कथा का आरम्भ कुण्डनपुर नगर से होता है तथा चरम सीमा तक कथा की घटनाएँ वहीं घटित होती हैं केवल एक बार बीच में कृष्णजी को बुलाने के लिए द्विज द्वारिका जाता है। अतः अधिकतर घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होने के कारण कथा-विशृंखलित होने का भय कम रह जाता है। विप्र की द्वारिका-यात्रा में पर्याप्त समय व्यतीत हुआ, इस समय कवि ने नायिका की मनोदशा का वर्णन करके अवसर का उचित प्रयोग किया है।

रुक्मिणी हरण कथा की चरमसीमा है। प्रत्येक प्रसंग द्वारा कथा इस ओर अग्रसर होती हुई प्रतीत होती हैं। इसमें कोई घटना भी निरुद्देश्य नहीं तथा कवि ने कथा के मार्मिक स्थलों का वर्णन अति विस्तृत रूप से किया है। विवाह की तिथि निश्चित करके तथा इसके रीति-रिवाजों का सजीव वर्णन करके कवि ने कथा में स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है।

कवि ने कथा की रूपरेखा भागवत पुराण से ग्रहण करने पर भी उसका अक्षरशः अनुकरण नहीं किया। उसने कथा-प्रसंगों में उचित परिवर्तन करके अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। मेहरचन्द ने कृष्ण रूप वर्णन नारद के मुख से करवाया जबकि भागवत पुराण की रुक्मिणी ने भाटों के मुख से कृष्ण विषय में सुना था। भागवत में रुक्मिणी ने द्विज को सगाई के समय ही कृष्ण के पास भेज दिया था परन्तु रुक्मिणी मंगल में शिशुपाल की बारात आने के पश्चात् द्विज को भेजा गया। इसका द्विज भी असाधारण था जो स्वयंमेव प्रगट हो गया था।

भागवत पुराण के द्विज ने द्वारिका में पहुँचकर पहले भोजन किया तत्पश्चात् रुक्मिणी का संदेश दिया परन्तु कवि ने कृष्ण को द्विज द्वारा पहुँचते ही सन्देश देने का वर्णन किया है। इन का द्विज बहुत भोला-भाला है। उसके लिए कृष्ण का महल ढूँढ़ना भी दुष्कर हो गया परन्तु भागवत पुराण का द्विज चतुर है वह सीधा कृष्ण के पास पहुंच जाता है।

भागवत पुराण में गौरी पूजा का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया परन्तु रुक्मिणी मंगल में इसका अति संक्षिप्त वर्णन है। इसमें कृष्णजी ने रुक्मिणी हरण चौखट पर ही कर लिया परन्तु भागवत पुराण के कृष्ण ने गौरी पूजा से

---

१. संवत् सत्रै सै वरण, गये गुणीसी बीति।
   पोस सुदी तिथि पंचमी, सोमवार सु प्रीति॥

२. याज्ञिक संग्रह वस्ता २७ पृ० सं० २८७।

लौटते समय रुक्मिणी हरण किया था। रुक्मिणी हरण के समय लोगों को मूर्छितावस्था में दिखाकर कवि ने मौलिकता का परिचय दिया है।

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को स्वप्न में दर्शन तथा जागने पर साक्षात् दर्शन व वार्तालाप आदि का वर्णन मेहरचन्द ने किया है परन्तु भागवत पुराण में ऐसा कोई वर्णन नहीं। विवाह के वर्णन में तेल छूना, उबटन लगाना, वर का स्वागत आदि प्रथाओं का वर्णन भी केवल मेहरचन्द ने किया है।

चरित्र-अंकन

रुक्मिणी मंगल में पात्रों की संख्या अत्यधिक है—इसमें कृष्ण, बलराम, शिशुपाल, राजा भीष्मक तथा उसकी रानी, रुक्मिणी, रुक्मी, द्विज आदि को स्थान प्राप्त है। कवि ने इनकी चारित्रिक विशेषताओं को भलीभाँति अंकित करने का सफल प्रयास किया है।

कृष्ण—कृष्णजी का हृदय अति कोमल तथा प्रेमभाव से परिपूर्ण था। रुक्मिणी का पत्र पढ़ते ही वह विह्वल हो गए—

वाचत प्रेम वचन उर साल्यो,
नैंनन नीर प्रबल वह चाल्यो।
प्रान पहुंचे रुक्मिन तीरा,
पर्यौ रह्यौ द्वारिका सरीरा ॥[1]

उनमें मानव सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं। वह शिशुपाल आदि राजाओं की सेना को देखकर घबरा जाते हैं—

धाम असुर आगे चलि आये,
निरषि कृष्ण मन सोक बढ़ाये।
जुध कौन विधि कीजिये, संग रुक्मिनि बाल।
घेर लीये चहुं ओर ते, सकल सेंन ससिपाल ॥[2]

कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध काव्यों में अधिकतर कृष्ण का कोमल रूप चित्रित है। वह युद्ध में भी कठोर रूप धारण नहीं करते।

मानहुं षेलत फाग षिलारी,
रुंड मुंड वहै स्रोनत भारी।
मारत मरत फिरत अति पेलत,
करत जुध मनु चाचरि षेलत ॥[1]

इस प्रकार कृष्ण के मानव रूप में चरित्र-अंकन करने में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कवि ने केवल एक स्थान पर कृष्ण की भगवद् शक्ति का परिचय अवश्य दिया है। कृष्णजी रुक्मिणी को स्वप्न में दिखाई दिए। जब वह जागी, तब भी वह कृष्ण की मूर्ति आँखों से ओझल नहीं हुई तथा रुक्मिणी इस मूर्ति से वार्तालाप करती रही।

रुक्मिणी—रुक्मिणी कृष्णजी की सच्ची प्रेमिका है। उसका कृष्णजी से जन्म-जन्म का सम्बन्ध है।[2] वह उन्हीं को पति बनाना चाहती है। परन्तु उसके परिवार के सदस्य उसका विवाह शिशुपाल से करने के लिए तत्पर हैं। वह हिन्दू परिवार की सदस्या होने के कारण अपनी प्रेम-कथा किसी के सम्मुख नहीं सुनाती और अन्दर-ही-अन्दर घुली जा रही है—

काहु भेद न देय, रषै लुकानौ आप तन।
हरि सु वढ्यौ सनेह, निसि वासर कल ना परै ॥[3]

उसने दृढ़ संकल्प कर रखा है कि वह कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह नहीं करवाएगी।

हरि बिन और न कोई मेरे तौ मनभाव ही।
हौनी होय सु होय, रहौ प्रान कै जाउ अब ॥[4]

वह बहुत चतुर है। कृष्ण के लिए वह हर समय अश्रु बहाती रहती है परन्तु अपना भेद किसी को प्रकट नहीं होने देती। एक दिन उसकी माता ने उसके नयनों में अश्रु देख लिए। उसके द्वारा रोने का कारण पूछने पर वह चतुरतापूर्ण उत्तर देती है—

तब रुक्मणि अस बोल सुनायौ,
बहौत उबटनौ मुष पर लायौ।
ताकां कणक पर्सौं दृग होई,
माता अश्रुपात यौ होई ॥[5]

---

१. रुकमणी मंगल पत्र सं० १८।
२. वही पत्र सं० २६।

१. रुक्मिणी मंगल, पत्र सं० २७।
२. दे० वही पत्र सं० ११।
३. वही पत्र सं० २।
४. रुक्मिणी मंगल—पत्र सं०
५. वही पत्र सं० ७

विप्र के पर्याप्त समय तक न लौटने के कारण वह आशा-निराशा के झूले में झूलने लगी। उसे कृष्ण के विरह में प्रत्येक क्षण भारी हो रहा था—

कठिन बनी है प्रान पियारे,
भयौ भवन तुम बिन अहि कारे।
छिन-छिन डसै लहरि तन मारै,
तुम बिन कौन से लहरि उतारै ।।[१]

रुक्मिणी लज्जाशील कन्या है। स्वप्न से जागकर जिस समय उसने अपने सम्मुख एक नवयुवक को खड़ा पाया उस समय वह सकुचा गई। उसमें नारी सुलभ सभी गुण विद्यमान हैं।

युद्ध-वर्णन—इन का युद्ध वर्णन सजीव नहीं है—

गिर गये तलातल उछरि-उछरि,
जल उदधि परी दल सकल चलाचल।
गिरे रुंड और मुंड सूंड गजराज धरन पर,
वरैं अछ्रावीर मुंड माला पाईहर ।।[२]

इन्होंने रूप वर्णन में कोई नवीनता नहीं दिखाई। प्रकृति को इन्होंने अपने काव्य में झाँकने भी नहीं दिया।

रस-परिपाक

ग्रन्थ का एकमात्र रस-शृंगार है। इसमें कवि ने पूर्व राग का भलीभाँति चित्रण किया है। नारद के मुख से कृष्ण का रूप वर्णन सुनकर रुक्मिणी की कृष्ण मिलन की उत्कंठा जाग्रत हो गई—

नेक न बिसरै चित, मीत मनोहर सांवरौ।
लगी लगनि रहै नित, श्रवण सुन्यौ जस स्याम के ।।

कथा में शृंगार रस के अन्य पक्षों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

भाषा-शैली

रुक्मिणी मंगल की भाषा सरल ब्रजभाषा है। इसमें कलिष्टता के कहीं दर्शन नहीं होते। इसमें कोमलता तथा मधुरता सर्वत्र विद्यमान है। अतः यह माधुर्यपूर्ण प्रधान है। इसमें तत्सम शब्दों का अभाव है। पसौं, सीरी, पेलत आदि[१] देशज शब्दों का प्रयोग अवश्य किया गया है। उर्दू भाषा के केवल तीन शब्द मुसकी, वालम तथा षवरदार आदि प्रयुक्त हैं[२] परन्तु ये अत्यधिक प्रचलित होने के कारण पाठक को खटकते नहीं। भाषा का नमूना देखिए—

सुकें धानन नीर, ज्यौं कोई सीचे आय कैं।
प्रफुलित भयौ सरीर, टुटि गई तन को तनी ।।[३]

छंद-विधान

सारे ग्रन्थ में पाँच छन्दों का प्रयोग किया गया है। १. दोहा २. सोरठा ३. चौपाई ४. भुजंग प्रयात ५. छप्पय। ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दों का क्रम इस प्रकार है— एक दोहा के पश्चात् एक सोरठा तथा कुछ चौपाई। चौपाइयों की संख्या नियत नहीं है। एक बार में कम-से-कम ४ चौपाई तथा अधिक-से-अधिक १४ चौपाई तक अंकित हैं। भुजंगप्रयात छन्द का प्रयोग केवल शिशुपाल बारात वर्णन में किया गया है तथा युद्ध वर्णन में छप्पय का प्रयोग मिलता है। अतः छन्द योजना श्रेष्ठ है।

कवि ने इन छन्दों की मात्रा संख्या छन्द-शास्त्र के अनुसार ही नियत की है परन्तु स्थान-स्थान पर एक दो मात्रा की न्यूनाधिकता मिलती है। स्पष्ट है कवि को अधिक काव्याभ्यास नहीं है।

अलंकार-योजना

ग्रन्थ में सहज अलंकरण किया गया है। इसमें न तो अलंकारों की भरमार है, न ही कोई न्यूनता खटकती है। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक प्रयोग किया है। अधिकतर निम्न अलंकार काव्य में प्रयुक्त हैं—

अनुप्रास— कनिक किकंनी कटि पैर गाढी,
निरषत काम कामना बाढ़ी।[४]

यमक— कल न परम पल छिन घरी,
घरी पहरै मति देह।[५]

१. वही पत्र सं० १५।
२. रुक्मिणी मंगल प० सं० २६।

१. वही पत्र सं० ७, १५, २८।
२. रुक्मिणी मंगल पत्र सं० ७, १४, २४।
३. वही पत्र सं० २०।
४, रुक्मिणी मंगल प० सं० १६।
५. वही पत्र सं० १४।

पुनरुक्ति प्रकाश—रोम-रोम तन वरि उठौ,
चितय मात की ओर ।[१]

उपमा— बरषैं नैंनन नीर,
ज्यौं सावन घन श्रवत जल ।
सल्यौ वचन जिमी तीर,
सुनि बरात ससिपाल की ॥[२]

उत्प्रेक्षा— मुक्त माल गोपाल के,
राजत रूप अपार ।
मानहु गिर गुर सिवर ते,
चली सुशीरी धार ॥[३]

१. वही पत्र सं० ८ ।
२. वही पत्र सं० ८ ।
३. वहा पत्र सं० १६ ।

प्रदीप— बिछे दुलीचा चान्दिनी की,
चन्द चांदिनी लागत फीकी ।
कूंदन किरणि हरनि मन वारी,
रवि दबि गयौ निरषि छवि भारी।[१]

रूपक— कठिन बनी है प्रान पियारे,
भयौ भवन तुम बिन अहि कारै ।
छिन-छिन उसैं लहरि तन मारैं,
तुम बिन कौन से लहरि उतारै ॥[२]

उदाहरण— ज्यौं रवि उदित तिमर सब नासैं,
त्यौं रुकमणि तन हरि परकासैं ।[३]

१. वही पत्र सं० १६ ।
२. वही पत्र सं० १५ ।
३. वही पत्र सं० २ ।

—:०:—

पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध
नवम्बर, १९७२ से अक्तूबर, १९७३ तक

नाम	विषय
राज कुमारी	रामस्नेही सम्प्रदाय, स्वरूप, साधना और साहित्य
पृथ्वीराज शर्मा	कुकुरमुत्ता से १९६६ तक हिन्दी काव्य का सौन्दर्य-शास्त्रीय विवेचन
उषा गुप्ता	प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटक : रस और व्यक्ति-वैचित्र्य [१९३८ १९६८]
वीना नागपाल	हिन्दी साहित्य के प्रकृतिवादी उपन्यासों का अध्ययन
पुष्पा बांसल	हिन्दी काव्यशास्त्र में कविता का स्वरूप-विकास
अचला दीदी	हिन्दी कहानी में नारी का बदलता स्वरूप [प्रेमचन्द से लेकर १९७० तक]

पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-विषय
नवम्बर, १९७२ से अक्तूबर, १९७३ तक

संख्या	नाम	विषय
१.	पद्मा गोयल	ध्वनिसिद्धान्त तथा शब्द-शक्तियों के आधार पर सूरकाव्य का अध्ययन
२.	प्रमुक्ता जैन	रंगमंच के आलोक में हिन्दी नाटकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन
३.	सुखान्ता रानी	पूर्व-वर्ती पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा के सन्दर्भ में रामचरितमानस का अध्ययन
४.	सुभाष चन्द	नई कहानी में प्रातीक विधान
५.	ओम पती	रामचरित मानस की राजनीतिक और आध्यात्मिक शब्दावली के आलोचनात्मक अध्ययन
६.	रंगी राम	कविता तथा अचार्यत्व दृष्टि से सोमनाथ साहित्य का मूल्यांकन
७.	अचरा वर्मा	भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन : हिन्दी नाटक के सन्दर्भ में :
८.	दर्शन जैन	स्वातन्त्रोत्तर हिन्दी नाटक और आधुनिकता
९.	स्वर्ण बिज	भाई सन्तोख सिंह : दार्शनिक एवं अध्यात्म विचार
१०.	हरी चन्द काकरान	गांधी विषयक काव्यों का शोधपर्क अध्ययन
११.	कृष्ण चन्द्र शास्त्री	संत गरीबदास : उनका सम्प्रदाय तथा साहित्य

उन्नीसवां अंक, नवम्बर, १९७३
मूल्य : पाँच रुपया
प्रकाशक तथा वितरक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

डा० इन्द्रनाथ मदान तथा डा० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज द्वारा सम्पादित और नरेन्द्र प्रिंटिग प्रेस, नई दिल्ली-५ द्वारा मुद्रित